* ओ३म् *

श्री १०८ श्री दयानन्द सरस्वती जी महाराज के व्याख्यान ॥

(१)

ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तर सहित ।

जिसको

पं० गणेश रामचन्द्र शर्म्मा उपदेशक मारवाड़ ने

महाराष्टीय से

नागरी भाषा में उल्था किया

और

डाक्टर सुखदेवजी वर्म्मा मन्त्री आ० प्र० नि० सभा

राजस्थान ने आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा

राजस्थान की ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९६३ आश्विन

द्वितीयवार २०००   मूल्य)॥

॥ ओ३म् ॥

श्री १०८ दयानन्द सरस्वती जी के व्याख्यान १ ॥

ईश्वरसिद्धिविषयक ॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पूने के बुधवार पेठ में के भिड़े के वाड़े में तारीख़ ४ जौलाई सन् १८७५ के दिन रात्रि समय में जो व्याख्यान दिया था उस का सारांश निम्नलिखित है—

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं
ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।

इत्यादि पाठ स्वामीजी ने प्रथम कहा ।

ओ३म् यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है क्योंकि इस में उस के सब गुणों का समावेश होता है ।

ईश्वर की सिद्धि प्रथम करनी चाहिये पश्चात् धर्मप्रबन्ध का वर्णन करना योग्य है क्योंकि "सति कुड्ये चित्रम्" इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं हुई तब तक धर्म-व्याख्यान करने का अवकाश नहीं ।

यजुः सं०

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । न तस्य कार्य्यं करणं च, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

यह वाक्य कह कर स्वामीजी ने उसकी व्याख्या की, मूर्त देवताओं में ये गुण नहीं लगते इसलिये मूर्त्तिपूजा निषिद्ध है इस पर यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि रावणादिकों के सदृश दुष्टों का पराभव करने के लिये और भक्तों की मुक्ति होने के अर्थ अवतार लेना चाहिये परन्तु ईश्वर

सर्वशक्तिमान् है इससे अवतार की आवश्यक्ता दूर होती है क्योंकि इच्छामात्र ही से वह रावण का नाश कर सक्ता था, इसी प्रकार भक्तों को उपासना करने के लिए ईश्वर का कुछ ना कुछ अवतार होना चाहिये ऐसा भी बहुत से भोले लोग कहते हैं परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शरीरस्थित जो जीव है वह भी आकार रहित है यह सब कोई मानते हैं अर्थात् वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं और प्रत्यक्ष कभी न देखते भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्यबुद्धि मनुष्य के विषय रखते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध से नहीं हो सक्ता यह कहना ठीक नहीं है, इस के सिवाय मन का आकार नहीं हैं मनद्वारा परमेश्वर ग्राहय है उसे जड़ेन्द्रियग्राहयता लगाना यह अप्रयोजक है श्रीकृष्णजी एक भद्र पुरुष थे उन का महाभारत में उत्तम वर्णन किया हुआ है परन्तु भागवत में उन्हें सब प्रकार के दोष लगा कर दुर्गुणों का बाजार गरम कर रक्खा है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इससे शक्तिमान् का अर्थ क्या है?

"कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुम्" ऐसी शक्ति से तात्पर्य नहीं है किन्तु सर्वशक्तिमान् का अर्थ न्याय न छोड़ते काम करने की शक्ति रखना यही सर्वशक्तिमान् से तात्पर्य है कोई २ कहते है कि ईश्वर ने अपना बेटा पापमोचनार्थ जगत् में भेजा, कोई कहते हैं कि पैगम्बर को उपदेशार्थ भेजा सो यह सब कुछ करने की परमेश्वर को कुछ भी आवश्यक्ता न थी, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।

बल, ज्ञान और क्रिया ये सब शक्ति के प्रकार हैं, बल, ज्ञान, क्रिया अनन्त होकर स्वाभाविक भी है, ईश्वर का आदिकारण नहीं है। आदिकारण मानने पर अनवस्थाप्रसङ्ग आता है, निरीश्वरवाद की उत्पत्ति सांख्यशास्त्र पर से हुई २ प्रतीत होती है परन्तु सांख्यशास्त्रकार कपिलमुनि निरीश्वरवादी न थे, उनके सूत्रों का आधार लेकर कपिल निरीश्वरवादी थे ऐसा कोई २ कहते हैं परन्तु उन के सूत्रों का अर्थ बराबर नहीं किया जाता, वे सूत्र निम्नलिखित हैं—

ईश्वरासिद्धेः ।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः। उ-

अयथाप्यसत्करत्वम् मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासादिसिद्धस्य वा ॥

इत्यादि, परन्तु सूत्रसाहचर्य से विचार करने पर ईश्वर एक ही है दूसरा नहीं है ऐसा भगवान् कपिल मानते थे, क्योंकि उनका सिद्धान्त था कि पुरुष है, वही पुरुष सहस्रशीर्षादि सूत्रों में वर्णन किया हुआ है, उसी के सम्बन्ध से—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।

इत्यादि कहा हुआ है, प्रमाण बहुत प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इत्यादि भिन्न २ शास्त्रकार प्रमाणों की भिन्न २ संख्या मानते हैं ।

मीमांसाशास्त्रकार जैमिनि जी २ दो प्रमाण मानते हैं, गौतम न्यायशास्त्रकार ८ आठ, कोई २ अन्य न्यायशास्त्रकार ४ चार, पतञ्जलि योगशास्त्रकार ३ तीन प्रमाण, सांख्यशास्त्रकार ३ तीन और ४, वेदान्त में ६ छः प्रमाण स्वीकार किये हैं, परन्तु भिन्न २ संख्या मानना यह उस शास्त्रकार के विषयानुरूप है, सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव करके ३ तीन प्रमाण अवशिष्ट रहते हैं ॥

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों की लापिका कर कर ईश्वरसिद्धिविषय प्रयत्न करते समय प्रत्यक्ष की लापिका करने के पूर्व अनुमान की लापिका करनी चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत संकोचित और क्षुद्र है, एक व्यक्ति के इन्द्रियद्वारा कितना कुछ ज्ञान हो सक्ता है ? अर्थात् बहुत ही थोड़ा होता है इस से प्रत्यक्ष को एक ओर रख कर शास्त्रीय विषयों में अनुमान प्रमाण ही विशेष गिना गया है, अनुमान के विना भविष्यदाचरण के विषय हमारा जो दृढ़ निश्चय रहता है वह निरर्थक होगा, कल सूर्य्य उदय होगा यह प्रत्यक्ष नहीं तथापि इस विषय में किसी के मन में ज़रा भी शङ्का नहीं होती, अब अनुमान के तीन प्रकार हैं, शेषवत्, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टम्, पूर्ववत् अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान शेषवत् अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान, सामान्यतोदृष्ट अर्थात् जिस प्रकार की संसार में व्यवस्था दिखलाई देती है उस पर से जो अनुमान होता है वह इन तीनों अनुमानों की लापिका करने से ईश्वर परमपुरुष सनातन ब्रह्म सब पदा-

र्थों का बीज है ऐसा सिद्ध होता है, रचनारूपी कार्य दीख-
ता है इस पर से अनुमान होता है कि इसका रचनेवाला
अवश्य कोई है। पंचभूतों की सृष्टि आप ही आप रची हु-
ई नहीं है क्योंकि व्यवहार में घर का सामान विद्यमान
होने ही से केवल घर नहीं बन जाता यह हम देखते हैं यही
अनुभव सर्वत्र है, मिश्रणनियमित प्रमाण से और विशिष्ट
कार्य उत्पन्न होने की सुगमता के विना कभी भी आप स्व-
यं घटना नहीं होती, तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टि में की व्य-
वस्था जो हम देखते हैं उस का उत्पादक और नियंता ऐसा
कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिये, अब किसी को यह
अपेक्षा लगे कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष ही प्रमाण होना
चाहिये, तो उसका विचार यूं है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण
का ज्ञान होता है, गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य उसका
ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता, वैसा ही ईश्वर सम्बन्धी
गुण का ज्ञान चेतन और अचेतन सृष्टिद्वारा प्रत्यक्ष होता है
इसी पर से इस गुण का अधिकरण जो ईश्वर उस का ज्ञान
होता है ऐसा समझना चाहिए।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

हिरण्यगर्भ का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं है किन्तु हिरण्य अर्थात् ज्योति जिसमें है वह ज्योतिरूप परमात्मा ऐसा अर्थ है, मूर्त्तिपूजा का पागलपना लोगों में फैला हुआ है इसे क्या करना चाहिए यह एक प्रकार की ज़बरदस्ती है, मूर्त्तिपूजा का अवडंवर जैनियों से हिन्दू लोगों ने लिया है।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति ।
नान्यद्विजानाति स भूमा परमात्मा ॥

वह अमृत है और वही सब के उपासना करने योग्य है और उससे जो भिन्न है वह सब झूठ है, वह अपना आधार नहीं है ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मंगलवार तारीख ६ जौलाई १८७५

श्री १०८ दयानंद सरस्वतीजी के ईश्वर विषयक व्याख्यान पर हुए २ वादविवाद का सारांश २ ॥
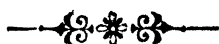
प्रश्न—कार्य और कारण भिन्न २ हैं या किस प्रकार ?

उ०—कहीं २ अभिन्न है और कहीं २ भिन्न भी है, जैसे-मृत्तिका से बना हुआ घट मृत्तिका ही रहता है परन्तु मांस शोणित से नख उत्पन्न होते हैं तथापि मांस शोणित ये नख नहीं हैं, इसी प्रकार मकड़ी के पेट से जाला उत्पन्न होता है परंतु इस से मकड़ी जाला नहीं होती ॥

गोमयाज्जायते वृश्चिकः॥

तो भी गोबर और बिच्छू क्या कभी एक ही हो सक्ते हैं ? सर्वशक्तिमान् चैतन्य में चेतन पर सर्वशक्तित्व है अर्थात् सामर्थ के कारण चैतन्य निमित्तकारण होता है,

इस स्थल पर जड़ पदार्थ जो विश्व का उपादान कारण वह; और निमित्त कारण चेतन एक नहीं है अब—

एकमेवाद्वितीयम् ।

ऐसी श्रुति है उसका अर्थ करने के लिए इस ऊपर की व्यवस्था से आपत्ति नहीं आती, कारण अद्वितीय अर्थात् ईश्वर ही उपादान हुआ ऐसा नहीं, कारण भेद तीन प्रकार का होता है कभी २ स्वजातीय भेद रहता है तो कभी २ विजातीय और कभी स्वगतभेद होता है। अब अद्वितीय है अर्थात् सब जो कुछ है वह ईश्वर ही है ऐसा अर्थ आधुनिक वेदान्त में लेते हैं परन्तु यह अर्थ काम का नहीं किन्तु अद्वितीय का अर्थ दूसरा ईश्वर नहीं अर्थात् एक ही ईश्वर है और वह संयुक्त नहीं यही अर्थ है, अब—

ईश्वरः सर्वसृष्टिं प्राविशत् ॥

ऐसे अर्थ की श्रुति है तो अब उस का अर्थ किस प्रकार करना चाहिए ? अथवाः—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

इस वाक्य का अर्थ कैसा करें ? आधुनिक वेदांती "इदं विश्वं" ऐसा मानकर उस शब्द का अन्वय सर्वं इस की ओर करते हैं परन्तु साहचर्य अर्थात् ग्रन्थ का अगला पिछला अभिप्राय इस की ओर दृष्टि देने से इदं शब्द का अन्वय ब्रह्म शब्द की ओर करना पड़ता है "इदं सर्वं घृतम्" अर्थात् यह बिलकुल घी है तेल मिश्रित नहीं, उसी तरह यह ब्रह्म नाना वस्तुओं से मिश्रित नहीं ऐसा सर्वं शब्द का अर्थ है, ऐसा अर्थ करने से ऊपर के हमारे कहे अनुसार श्रुति का अर्थ होने में दिक्कत नहीं रहती, "नाना वस्तु ब्रह्मणि" अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानं वेद" अथवा "यस्य आत्मा शरीरम्" इस वाक्य के अर्थ के विषय आपत्ति आवेगी इस का विचार करना चाहिए, एक ही शरीर के स्थान में व्याप्य और व्यापक इन दोनों धर्मों की योजना नहीं करते बनती, गृह यह आकाश में स्थित है और आकाश यह व्यापक होकर गृह यह व्याप्य है इसलिए आकाश और गृह ये एक ही हैं वा अभिन्न हैं ऐसा अनु-

मानं निकालते नहीं आता, इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये अभिन्न हैं ऐसा कहने का अवकाश नहीं रहता ॥

अहं ब्रह्मास्मि ॥

इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो यह अत्यन्त प्रीति का उदाहरण है, यही लौकिकदृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है, जैसे मेरा मित्र अर्थात् मैं ही हूं ऐसा कहते हैं परन्तु मैं और मेरा मित्र इन दोनों की सर्वथैव अभिन्नता है ऐसा फलितार्थ नहीं होता, समाधिस्थ होते समय " तत्त्वमसि " ऐसा मुनि लोग कह गए परन्तु साहचर्य की ओर ध्यान देने से मुनियों का यह भाषण जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं इस मत का पोषक नहीं होता क्योंकि इसी वचन के उत्तर भाग में इस सारे स्थूल और सूक्ष्म जगत् में कारण सम्बन्ध से परमात्मा का ऐतरात्म्य है परमात्मा का आत्मा दूसरा नहीं "स आत्मा" वही आत्मा है "तदंतर्यामि त्वमसि" जो सब जगत् का आत्मा वह तेरा ही है इसलिए जीवात्मा और

परमात्मा इन के बीच परस्पर सेव्य सेवक, व्याप्य व्यापक, आधाराधेय ये सम्बन्ध ठीक जमते हैं, ऐतरेयोपनिषद् में:—

"प्रज्ञानं ब्रह्म"

ऐसा वाक्य है, उस के महावाक्यविवरण में—

"प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म"

ऐसा विस्तार किया हुआ है, फिर भी परमेश्वर ही सृष्टि बना ऐसा अर्थ "तत् सृष्टिमाविशत्" इस वाक्य पर से करने पर कार्य कारण की अभिन्नता होती है, यदि ईश्वर ज्ञानी है तो अविद्या माया आदिकों के स्वाधीन होकर सृ-ष्ट्युत्पत्ति का कारण हुआ ऐसा कहने में उस को भ्रान्ति हुई ऐसा प्रतिपादन करना पड़ता है, देश काल वस्तु परिच्छेद है वहां भ्रान्ति है, यही भ्रान्ति ब्रह्म को हुई यह मानने से ब्रह्म का ज्ञान अनित्य ठहरता है यह विचारणीय वार्त्ता है, इसी तरह जीवभावना भ्रान्ति का परिणाम है, भ्रान्ति दूर होने से जीव ब्रह्म होता है यह समझ ठीक नहीं क्योंकि भ्रान्ति परमात्मा में नहीं सम्भव होती, आधु-

निक वेदान्तियों की सदृश मुक्ति की समझ लेने पर ब्रह्म को अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग आता है, जीव और ब्रह्म को यदि एक कहें तो जीव में ब्रह्म के गुण नहीं हैं, जीव को अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य नहीं, यदि हम ब्रह्म बन जावें तो हम जगत् भी रच लेवें, इस से पुनः एक दफे और कहना पड़ा कि विश्व जड़ ब्रह्म चेतन है और इन का आधाराधेय, सेव्यसेवक, व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है, " सुखमवाप्सम् " इस अनुभव की योजना करते वनती है क्योंकि चैतन्य यह नित्य ज्ञानी है, तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय कोश के अवयव वर्णन किये हुए हैं, सारांश जीव ब्रह्म नहीं, जगत् ब्रह्म नहीं, इस स्थल पर कार्य कारण भिन्न २ हैं यही प्रकार सत्य है परन्तु अखिल सजीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से निर्माण किए वह सामर्थ्य उसी के पास सदा रहता है इस तात्पर्य से भेद नहीं आता, प्रश्न २–तुम कहते हो कि अवतार नहीं हुए तो ईश्वर को सगुण वा निर्गुण क्यों मानते हो ?

उ०–प्राकृत जनों में सगुण अर्थात् अवतार और निर्गुण

अर्थात् परब्रह्म ऐसा अर्थ कर २ इस सम्बन्ध से बाद च-लता है परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है "सपर्यगात्" इस श्रुति पर से अवतार का होना बिलकुल ही नहीं सम्भव होता, कविः, मनीषी–एकभूतो, निर्गुणश्च, ऐसे २ श्रुतिवाक्य हैं इस पर से ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है, ज्ञान, शक्ति, आनन्द इन गुणों के सहित होने से वह सगुण है परन्तु जड़ के गुण उस में नहीं हैं इन गुणों के सम्बन्ध से वह निर्गुण है, प्रथम जो मैंने श्रुति कही उस के साहचर्य की ओर ध्यान देने से यही अर्थ निकलता है ॥

प्रश्न ३–प्रार्थना क्यों करना चाहिये, ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी है तो उसे हमारे मन की सब विदित है और उसने हमें इस प्रकार कैसे उत्पन्न किया कि हम पाप करें, फिर इस प्रकार की पापविषयिणी प्रवृत्ति हम में रखकर भी हमारे पाप का दण्ड देता है तो ईश्वर न्यायी कैसा ?

उ०–हमारे माता पिता ईश्वर के बनाए हुए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी वे हम पर बड़े उपकार करते हैं इन उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है ऐसा हम स्वी-

कार करते हैं, फिर जब ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उस के असंख्य उपकार को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिये, द्वितीय–कृतज्ञता दिखलाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शांत होता है, तृतीय–परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है, चतुर्थ–प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है और आगे को पापवासना का बल घटता जाता है, पञ्चम–सत्यता प्रेम ये गुण हम में दृढ़ होते जाते हैं, षष्ठ–स्तुति अर्थात् यथार्थ वर्णन, ईश्वर स्तुति करने से अपनी प्रीति बढ़ती है क्योंकि ज्यों २ उस के गुण समझ में आते जाते हैं त्यों २ प्रीति अधिक जमती जाती है, फिर यह भी है कि उपासना के द्वारा आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है इस उपाय को छोड़ पापनाशन करने के लिए अन्य उपाय नहीं है, काशी जाने से हमारे पाप दूर होंगे यह समझ अथवा तोबा करने से पाप छूटना किंवा हमारे पाप का भार अमुक भद्र पुरुष लेकर सूली चढ़ गया इत्यादि अन्य लोगों की सारी समझ अप्रशस्त है अर्थात् भूल पर है, उपासना के द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, विवेकी होने से क्षणिक वस्तुओं से शोक

और आनन्द ये दोनों नहीं होते, अब ईश्वर ने जीव स्वतन्त्र किया इसलिए उस से पाप भी होता है, यदि उसे परतन्त्र किया जाता तो वह केवल जड़पदार्थवत् बना रहता, जीव के स्वातन्त्र्य से ब्रह्म की सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है, बच्चे को छुट्टा छोड़ा जाय तो वह चोट लगा लेवेगा यह सोच माता बालक को बांध नहीं रखती तौ भी बालक देगा, धूम, फसाद अवश्य करेगा यह ज्ञान माता को रहता ही है, इस लौकिक उदाहरण पर से ब्रह्म की सर्वज्ञता से जीव के स्वातन्त्र्य को कुछ भी हरक्कत नहीं आती, ज्ञान के विषय स्वतंत्रता उसकी है, उसी तरह आचरण के विषय उस से दिएहुए सामर्थ्य की मर्यादा में स्वतंत्रता मनुष्य की है, यदि ऐसी स्वतंत्रता न होती तो जो सुखोपभोग आज हो रहा है वह न होता और जीव सृष्टि की उत्पत्ति व्यर्थ हुई होती ॥

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हुईं पुस्तकों की सूची ।

राधास्वामीमतखण्डन		मू०	≡)॥
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान			
ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तरसहित	(१)	मू०	)।
व धर्माऽधर्मविषयक "	(२)	"	)॥
व वेदविषयक "	(३)	"	)॥
पुराणों की शिक्षा		"	डेढ़पाई
मृतकश्राद्धविषयक प्रश्न		"	डेढ़पाई
लिङ्गपूजाविधान उर्दू		"	)।
फर्यादपोप उर्दू		"	-)
सङ्गीतसंग्रह		"	)॥।
बूंदी शास्त्रार्थ		"	≡)

मसलेनियोग—टी. विलियम साहब के जवाब में, मूल्य डेढ़पाई

इकट्ठी लेनेवालों के लिये विशेप नियमः—

मिलने का पता—

पुस्तकाध्यक्ष आर्य्यसमाज,

अजमेर ।

श्री १०८ श्री दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान ॥

(२)

धर्माधर्मविषयक प्रश्नोत्तरसहित

जिसको

पं० गणेश रामचन्द्र शर्म्मा उपदेशक मारवाड़ ने

महाराष्ट्रीय से

नागरी भाषा में उल्था किया

और

बा० रामबिलास सारदा मन्त्री ने

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा राजस्थान की,

ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक-यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९५० श्रावण

प्रथमवार २०००   मूल्य

तारीख ८ माह जौलाई १८७५

श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने विज्ञापनानुकूल बुधवार पेठ में के भिडे के वाडे में रात्रि के आठ बजे जो धर्माधर्मविषयक व्याख्यान दिया था-उस का सारांश २ ॥

ओ३म्

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।
ऋक् संहिता मं० १ । अनु० १४ । सू० ८९ मं० ८ ॥

यह ऋचा स्वामीजी ने कही, फिर धर्माऽधर्म इस

विषय पर व्याख्यान प्रारम्भ किया। परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म। विधि यह धर्म। निषेध यह अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निःपक्षपात यह धर्म। पक्षपात यह अधर्म—व्रतेन दीक्षामाप्नोति (म०) इस प्रतीक का शुक्ल यजुः संहिता का मंत्र कहा, उस का अर्थ किया, अब सत्यमूलक यदि धर्म है तो सत्य क्या है? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं, इस न्याय से जो अर्थ सत्य ठहरे वही सत्य है। आश्रम चार हैं ब्रह्मचर्याश्रम। गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास,

अहिंसा परमो धर्मः ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६।९२)

धर्म और अधर्म ये अनेक हैं परंतु उन में से विशेष रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म हैं। उन का

स्वामी जी ने विशेष विवरण किया हुआ है,

इस प्रकार ग्यारह धर्म सनातन उपदिष्ट हैं, प्रथम अहिंसा का लक्षण :—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
(योगसूत्र साधनपाद ३० सूत्र)

अहिंसा इसका केवल--पश्वादि न मारना ऐसा अकुंचित अर्थ करते हैं परंतु व्यास जी ने ऐसा अर्थ किया है कि :—

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः—
अहिंसा ज्ञेया ॥
अर्थात् वैर त्याग करना—

धृति—अर्थात् धैर्य, राज्य गया तो भी धर्म का धैर्य छोड़ना नहीं चाहिये, धैर्य छोडने से धर्म का पालन नहीं होता, क्षमा अर्थात् सहनता, बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिए किया तो उसे छोटे ने सहन कर लिया, यह क्षमा नहीं है, इसे असामर्थ्य कहते हैं,

किंतु शरीर में सामर्थ्य हो कर बुरे का प्रतीकार न करना यही क्षमा है ॥

दमनाम मनसो वृत्तिनिग्रहः—मन की वृत्तियों का निग्रहकरना इसी का नाम दम है, वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है, अस्तेय अन्याय से धनादि ग्रहण करना, आज्ञा विना परपदार्थ उठा लेना स्तेय है और स्तेयत्याग अस्तेय कहाता है, शौच-दो प्रकारका है, शारीरिक व मानसिक, उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधि का आचरण करना यह शारीरिक शौच है, किसी भी दुष्ट वृत्ति को मन में आश्रय न देना यह मानसिक शौच है, शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भी रहती है, इन्द्रियनिग्रह अर्थात् सारी इंद्रियों को न्याय से धाक में रखना, इंद्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए, इंद्रियों का आकर्षण परस्पर सम्बन्ध से होता रहता है, मनु ने कहा है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिंद्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

इस वाक्य का अर्थ—इंद्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए, धी अर्थात् बुद्धि, सब प्रकार बुद्धि का बल प्राप्त हो वैसे ही आचरण करने चाहिए, शरीरबलविना बुद्धिबल का क्या लाभ ? इसलिये शरीरबल संपादन करने के लिए और उस की रक्षा करने के लिये बहुत प्रयत्न करते रहना चाहिए,

विद्या—योगसूत्र में अविद्या का लक्षण किया हुआ है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
(योगसूत्र साधनपाद २४ सूत्र)

तस्य हेतुरविद्या ॥

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम, अभिमान यह हैं, बड़े २ पाठ करने से ही केवल विद्या उत्पन्न

नहीं होती पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा, यथार्थदर्शन ही विद्या है। यथाविहित ज्ञान यह विद्या है, प्रमा के विरुद्ध भ्रम है, विद्या को भ्रम नहीं होता, "अनात्मनि आत्मबुद्धिः" "अशुचिपदार्थे शुचिबुद्धिः" यह भ्रम है, यही अविद्या का लक्षण है और इस के विरुद्ध जो लक्षण हैं वे विद्या के हैं, जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूं वा मैं बड़ा राजा हूं उसे अविद्या का दोष है, दूसरा शरीर क्षीण रहना यह अविद्या का कारण होगा, इस से सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय प्रयत्न करने चाहिएं, हमारे देश में न्यून अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या सम्पादन करने को आपत्ति होती है। अपवित्र पदार्थ के स्थान में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान—यह पूर्ण विद्या है, यह सारी विद्याओं का मूल है, किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास (न्यूनता) होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है ॥

सत्य-तीन प्रकार का है, सत्यभाव, सत्यवचन। सत्य-क्रिया, सत्यभावना होनी चाहिए, सत्य भाषण करना चाहिए और सत्य आचरण तो करना ही चाहिए, किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिए। असत्य का त्याग करना चाहिए। विवेक का लक्षण योगसूत्र में किया हुआ है—कि

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥

संभव कौन सा और असंभव कौन सा, इस का विचार करना चाहिए। कुम्भकर्ण के विषय में तुलसीदास जी का एक दोहा है—कि

योजनएकमूछरहीठाढ़ी। जोजनचारनासिकाबाढ़ी॥

दक्खन में देव मामलेदार कर २ कोई साधू हुआ है उस की यूं बात उड़ाते हैं कि उस ने अपने वचन से पुरुष को स्त्री बनाई, ऐसी २ असंभाव्य बातें हमारे देश में बहुतसी फैल गई हैं इसलिये प्रमाणों के सहाय से अर्थ विवेचन कर २ देखने से

विचारांत में निश्चय होता है कि कौन सी बात सत्य और कौन सी झूठ है यह समझता है ॥

अक्रोध—बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है उस का सर्वथा त्याग करना चाहिए, स्वाभाविक क्रोध कभी नहीं जा सक्ता परंतु उसे रोकना मनुष्य का धर्म है, क्रोधाधीन होने से बड़े २ अनर्थ होते हैं, इस प्रकार का एकादशलक्षणी सनातन धर्म है, जो मनुष्यमात्र को कर्तव्य है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनु० अ० २ । श्लो० २०)

व्यवहारधर्म की ओर भी ध्यान देना चाहिए, सारी दुनियां में इसी आर्यावर्त से विद्या गई, इस देश के आर्य पुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय थोड़ा है, समुद्र पर चलने वाले जहाजों पर कर लेने की आज्ञा भगवान् मनु ने अष्टमाध्याय

में लिखी है, इस से स्पष्ट है कि समुद्रयानादिक पहिले हमारे लोग करते थे—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥
(म० अ० ८ । १५७)

अधर्म अर्थात् अन्याय, इस का विचार करना चाहिए, मनु ने ऐसा कहा है कि :—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिंतनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
(म० अ० १२ । ५ । ६ । ७)

मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं, पर-

द्रव्यहरण, चोरी, मनसानिष्टचिंतन अर्थात् लोगों का बुरा चिंतन करना, मन में द्वेष करना, ईर्षा करना, वितथा अभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना, वाचिक अधर्म चार हैं। पारुष्य अर्थात् कठोर भाषण, क्योंकि सब ठौर सब समय मनुष्य को उचित है कि वह मृदु भाषण करे, किसी अंधे को "ओ अंधे" कर कर पुकारना निस्संदेह सत्य है परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है, **अनृत भाषण** अर्थात् झूठ बोलना। **पैशुन्य** अर्थात् चुगली करना, **असम्बद्ध प्रलाप** अर्थात् जानबूझकर बात को उड़ाना। शारीरिक अधर्म तीन हैं, **अदत्तानामुपादानम्** अर्थात् चोरी। **हिंसा** अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, **परदारोपसेवा** अर्थात् रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना, किसी मनुष्य ने अपने खेत में की जमीन में न बोते अपना बीज लेकर दूसरे की जमीन में बोया तो उसे हम क्या कहेंगे ? क्या उसे हम मूर्ख न

कहेंगे ? अपने वीर्य को जो मनुष्य अगम्यगमन से खर्च करे वह तो महामूर्ख है, कोई २ ऐसा कहने लग जाते हैं कि हम नगद पैसा देकर बाजार का माल मोल लेते हैं इस में सो व्यभिचार क्या होगा ? परन्तु वे मूर्ख नहीं सोचते कि पल्ले का रुपया खर्च कर अपने अमूल्य वीर्य को खर्च कर डालते हैं यह व्यापार किस प्रकार का है ? अर्थात् ऐसा व्यापार करनेवाला तो क्या महामूर्ख नहीं है ? अवश्य मूर्ख है—

धर्म के तीन स्कंध हैं, यज्ञ, अध्ययन। और दान। यज्ञ अर्थात् होम। यज्ञ करने से वायुशुद्धि होकर देश में बहुत सी वृष्टि होती है, मीमांसा और ब्राह्मणादि ग्रंथों में मन्त्रमयी देवता तो मानी है और विग्रहवती देवता कहीं भी नहीं मानी, इस व्यवस्था के द्वारा शास्त्रकारों ने बहुत सा झगड़ा मिटा दिया, परंतु :—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ।

इस पुरुषसूक्त में की ऋचा की व्यवस्था का लगाना ज़रा अच्छा ही कठिन पड़ता है,

अध्ययन—अध्ययन अर्थात् लड़कों को तथा लड़कियों को सिखाना यह है,

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिष्क्रिया।
(मनु० २।६७)

इस में **गुरौ वासो** अर्थात् कुल्लूक भट्ट ने पति के के घर में वास करना ऐसा अर्थ कर २ अर्थ का अनर्थ कर दिया, पूर्वकाल में आर्यलोगों में स्त्रीलोग उत्कृष्ट रीति से सीखती थीं, आर्य लोगों के इतिहास की ओर देखो—स्त्रीलोग आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर २ रहती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे यह सब को विदित ही है॥

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी कात्यायन्यादि बड़ी २ सुशिक्षित स्त्रियां होकर बड़े२ऋषि मुनियों की शंकाओं

का समाधान करती थीं, फिर नहीं मालूम कुल्लूक भट्ट ने "पतिसेवैव गुरौ वासः" ऐसा अर्थ कहां से किया? अथर्ववेद में कहा है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

(अ० वे० ११-५-१८)

ऐसा स्पष्ट वाक्य है, इस वाक्य को एक ओर रख कर कुल्लूक भट्ट के अर्थ को ग्रहण करना जरा कठिन होगा, सुशिक्षित स्त्री लोग कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार सहाय करने वाली होती हैं, संगत का बल कितना बढ़ कर है इस का विचार करो, विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग परे तो उस का परिणाम कैसे लगे? फिर स्त्रियां ही केवल पढ़ें इतना ही नहीं किन्तु सारी जातियां वेदाभ्यास करने का अधिकार रखती हैं, देखो—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥ (यजुः अ० २६ मं० २)

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

शूद्र का ब्राह्मण होता है और ब्राह्मण का भी शूद्र होता है, इस मनुवाक्य का भी विचार करना चाहिए, अध्ययन करना अर्थात् ब्रह्मचर्य निभाना यह बड़ा ही धर्म है ब्रह्मचर्य के कारण शरीरबल और बुद्धिबल प्राप्त होता है, आजकल लड़के लड़कियों के शीघ्र विवाह करने की बुरी रसम पड़ गई है, काशीनाथ ने शीघ्रबोध करके एक ज्योतिष् का ग्रन्थ बनाया है उस में ऐसा कहा है कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥
माता चैव पिता तस्य ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥

लड़की शीघ्र गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वला होती है इत्यादि बहुत कुछ बकवाद की है,

इस ग्रन्थ को बने अभी १०० वर्ष भी नहीं हुए होंगे। स्वयम्बर के विषय भगवान् मनु जी का आदेश है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥

इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रक्खो परंतु बुरे मनुष्य के साथ विवाह में उसे न दो, वाक्य—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

पुरातन सुश्रुत चरकादि वैद्यक के ग्रन्थों में आयु के चारभाग कल्पना किए हैं, १ वृद्धि २ यौवन, ३ संपूर्णता और ४ हानि, इन की व्यवस्था इन श्लोकों में दो है सो देखो—

तिस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति, आषोडशाद् वृद्धिः, आपंचविंशतेर्यौवनं,

आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति ॥

पुरुषों को योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिए कम से कम चालीस वर्ष की आयु की आवश्यकता है। निकृष्ट पक्ष में भी लड़के की पच्चीस से न्यून आयु न हो और लड़की की सोलह बरस से न्यून आयु तो होना ही न चाहिए ऐसा सुश्रुत का कहना है,

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक् ॥

छान्दोग्य उपनिषद् में प्रातःसवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है, यह पुरुषों की कुमार अवस्था है। चबालीस वर्ष तक मध्यसवन कहा है यही यौवनावस्था है और अड़तालीस वर्ष तक सायंसवन वर्णन किया है जो सम्पूर्णता की अवस्था है, इस के पश्चात् जो समय आता है वही उत्कृष्ट समय विवाहादि के लिए माना गया है, विवाह होने के पूर्व

वेदाध्ययन अवश्य कराना चाहिए, इन दिनों ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थवश वेदाध्ययन छोड दिया है। मानो बिलकुल नष्ट कर दिया है सो प्रारम्भ होना चाहिए, अथर्ववेद में अल्लोपनिषद् करके घुसेड़ दिया है, यह मतलबी लोगों ने नये २ श्लोक बनाकर लोगों को भ्रम में डालने के लिए रच कर डाल रक्खे हैं सो बड़े ही दुःख की बात है, इसलिए ऐसा हो कि स्थान २ पर वेदशालाएं हों उन में वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षाएं लिवाई जावें अर्थात् वेदाध्ययन को हरप्रकार से उत्तेजन मिले ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

दान—दान शब्द का आज कल जो अर्थ लेते हैं वह नहीं, पेटार्थू लोग कहते हैं कि:—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः ॥

इत्यादि विवेचनमूलक दान सदा होता रहता है। इन दिनों लोगों ने "पीत्वा पीत्वा ब्रह्मापि मृतः" ऐसे २ वाक्यों को कह २ कर दान का मिथ्या ही अर्थ

किया है सो न हो किन्तु दान वह है जो विद्या-वृद्धि के लिए द्रव्य खर्च हो, कला कौशल्य की उन्नति में धन लगाया जाय। दीन, अपाहज, रोगी, कुष्टी, अनाथ आदिकों को सहाय करना सच्चा दान है।

आश्रम चार हैं, ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन पूर्व हो हो चुका है, गृहस्थाश्रम में परस्पर प्रीति बढ़ कर सामाजिक कल्याण बढ़े यही मुख्य धर्म है, इस प्रकार की सामाजिक प्रीति बढ़ने के लिए पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का पाषण्ड दूर होना चाहिए,

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भार्या भर्त्रा तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

उपरोक्त श्लोक में कहे अनुसार गृहस्थों को आनन्द करते निर्वाह करना चाहिए यह उन का मुख्य धर्म है,

वानप्रस्थ—इस आश्रम में विचार करना चाहिए, तप अर्थात् विद्या को सम्पादन करना उचित है,

संन्यासी—संन्यासी को उचित है कि सारे जगभर घूमे और सदुपदेश करे यही उस का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, यथार्थ उपदेश के विषय मनु कहते हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलम्पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

पंचशिखा और शङ्कराचार्य इन का इतिहास देखना चाहिए कि उन्हों ने सदा सत्य और सदुपदेश ही किए, उसी प्रकार संन्यासीमात्र को सदुपदेश करना चाहिए।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

यह कह कर व्याख्यान समाप्त किया,

शनिवार तारीख १० जुलाई १८७५

श्री १०८ दयानन्द सरस्वती जी का व्याख्यान—३

धर्माधर्मविषयक ॥

प्रश्न—क्या वेदों में मन्त्रमयी देवतों का अथवा विग्रहवती देवताओं का प्रतिपादन है ? सावयव देवताओं के विना जड़मति अज्ञानी लोग पूजा किस प्रकार कर सकें और धर्मव्यवहार में उन का निर्वाह कैसे लगे ?

उ०—वेदों के तीन काण्ड हैं—उपासना, कर्म और ज्ञान, परंतु उपासनाकाण्ड में केवल एक उपासना ही का प्रतिपादन हो यही नहीं, अथवा ज्ञानकाण्ड में ज्ञान ही का प्रतिपादन हो वा कर्मकाण्ड में कर्म ही का प्रतिपादन हो यह नहीं किन्तु औरों का

भी है, जैसे उपासनाकाण्ड में उपासना तो प्रधान ही है परन्तु उस में ज्ञान और कर्म का निरूपण भी मिलता है, इसीप्रकार सर्वत्र है, मीमांसा का प्रारंभ "अथातो धर्मजिज्ञासा" ऐसा है इस में कर्मविचार है। इस में अथ और अतः इन दो शब्दों के अर्थ-विषय में बड़ी ही मेहनत की है और उस पर से भिन्न २ कांड की बिलकुल भिन्न २ व्यवस्था प्रतीत होती है ऐसा कोई २ कहते हैं परन्तु वैसा कहना अप्रशस्त है—आश्वलायन ने जो व्यवस्था की है वह कुछ २ ठीक है उसे देखना चाहिए-इन दिनों कर्म वेदमन्त्रों के अनुकूल नहीं होता क्योंकि जैमिनि ऋषि ने कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता मानी है और कर्म का अधिकार स्नातक और योग्यता को चढ़े हुए पुरुषों को है तो इस पर से यह स्पष्ट होगा कि कर्मविषय में जो यह जड़बुद्धि वह पुरुषों में योग्यता नहीं है यह होगा, कर्मकाण्ड में मन्त्र-मयी देवता हो तो अब मूर्त देवताओं को उस में

घुसने का स्थान नहीं रहा,उपासनादिकों को योग-
शास्त्र का आधार है जैसे कर्मकाण्ड को मीमांसा
में है परन्तु योगशास्त्र में मूर्तिपूजा के विषय में कहीं
भी वर्णन नहीं है, ज्ञानकाण्ड में मूर्ति की कोई
आवश्यकता नहीं होती ऐसी सर्वसम्मति है, इस
पर से जैमिनि के मतानुकूल व्यास जी के सिद्धा-
न्तानुकूल और पतञ्जलि के सम्मत्यनुकूल तो मूर्ति-
पूजा गृहीत नहीं होती अर्थात् पूर्वमीमांसाशास्त्र,
योगशास्त्र, उत्तरमीमांसा अथवा वेदांतशास्त्र इन
में तो मूर्तिपूजा को कहीं भी अवकाश नहीं है,
अब कोई ऐसा कहे कि स्मृतिग्रन्थों में मूर्तिपूजा
है और स्मृति को अनुमान से श्रुति मूलकत्व है,उप-
लब्ध श्रुति में मूर्ति की पूजा का उपदेश न हो तो
भी लुप्त है और श्रुति में मूर्तिपूजा का विधान
है ऐसा मान कर मूर्तिपूजा करना चाहिए तो ऐसा
श्रुति स्मृति का सम्बन्ध मान कर अनुपस्थित श्रुति
का अवलम्बन कर २ उपस्थित ग्रन्थों के आधार

में जो विचार करना है उस में गड़बड़ मचाना यह हमें प्रशस्त नहीं दीखता, इन दिनों चार वेद और प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखायें भी उपलब्ध (प्राप्त) हैं, शाखाभेद फिर कई प्रकार का होता है। जो कुछ मूलबीजरूप वेदों में वही उपलब्ध शाखा-ओं में तो न हो किन्तु लुप्त शाखाओं में होगा यह कल्पना सयुक्तिक नहीं, आश्वलायन, कात्यायनादि श्रौतसूत्रकारों को नष्ट शाखाओं में के मन्त्र लेते नहीं बनते इसलिए अमुक मन्त्र ही नहीं लिए ऐसे कहीं भी कहते नहीं सुना और शास्त्रव्यवस्था के लिए स्मृत्यवलम्बन करना चाहिए ऐसा भी उन का कहना नहीं था, हमारा भी यही कहना है कि पूर्वमीमांसा, योग और उत्तरमीमांसा इन शास्त्रों को कृपा कर लगाओ और विचार कर २ देखो। इसीप्रकार शतपथादि ग्रन्थों में, निरुक्त में, पातञ्-जल महाभाष्यमें नष्ट शाखाओं का गौण प्रकार से भी कहीं सूचक लिङ्ग नहीं है इस से स्मृति को

श्रुतिमूलकत्व है इस मत से आधुनिक अशुद्ध व्यवहार को आवश्यकीय उतने ज्ञापकों को निकालना यह बहुत ही अप्रशस्त है, अस्तु, वेदों में तथा शास्त्रों में मूर्तिपूजा का विधान कहीं भी नहीं यह तो सिद्ध हो चुका। अब रहा यह कि मूढ़ और अज्ञानी लोग सावयव देवताओं के विना अपना निर्वाह कैसे करें ? इस प्रश्न पर विचार करें, हमारे विचार से तो मूर्खों को भी मूर्तिपूजा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मूर्ख अर्थात् प्रथम ही जड़ बुद्धि और फिर उस के पीछे लगाई जाय जड़ पदार्थों की पूजा, तो क्या उस की बुद्धि और अधिक जड़ न होगी ? क्योंकि जड़ मूर्ति की पूजा से तो जड़ बुद्धि में जड़त्व ही जमेगा इस से उन्नति तो कभी भी न होगी किन्तु अधोगति तो अवश्य होगी। भला अब यह देखें कि पूजा शब्द का अर्थ क्या है ? पूजा शब्द का शब्दार्थ सत्कार करना ऐसा है न कि षोडशोपचारपूजा, देखो—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव ।
आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ॥

इस स्थल पर माता, पिता, आचार्य और अतिथि इन का पूजन अर्थात् सत्कार करना यही है, उसी प्रकार मनु में भी—स्त्री पूजनीय है अर्थात् भूषण, वस्त्र, प्रियवचन इत्यादिकोंद्वारा सत्करणीय है, देखो मनु जी क्या कहते हैं—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

जड़ पदार्थों की सत्कारार्थ में पूजा करते नहीं बनती, सचेतन का, सजीव का ही केवल सत्कार करते बनता है, सजीव का अर्थात् भद्र मनुष्यादिकों का सत्कार करने से बहुत से लाभ होते हैं—

मनुष्यों को सत्संग होने से उन की बुद्धियों की परिपक्वता हो कर वैशद्य को वे पहुंचते हैं और उस से मन्दबुद्धि पुरुषों का कल्याण भी होता है, अब दूसरा

यह कि मनुष्यों में स्वभाव ही से ऐसी इच्छा होती है कि लोग हमें अच्छा कहें, हमारी सुकीर्ति हो, आस पास के लोग भला कहें। हमारे आचरण को ठीक कहें इत्यादि, तो इस इच्छा पर से उन के मन की सदाचरण की इच्छा दृढ़ होती है पर यह होने कब पावे ? जब कि उसे सत् मनुष्यों की संगति हो तब ही हो सक्ता है अन्यथा कभी सम्भव नहीं, हमें स्पष्ट विदित है कि जड़ मूर्तियों के सन्मुख मन्दिरों में कैसे २ दुराचरण होते हैं वैसे दुराचरण ५ वर्ष के बच्चे के सन्मुख भी करने की मनुष्य की हिम्मत नहीं होती जैसी कि जड़मूर्ति के सन्मुख करने में लज्जा तनिक भी नहीं आती, इस पर से स्पष्ट है कि मनुष्य को मनुष्य जितना डरता है उतना जड़ मूर्तियों को नहीं डरता किन्तु यह तो होता है कि लाख मूर्तियों में भी यदि मनुष्य खड़ा किया जावे तो उस का चित्त भ्रष्ट और चञ्चल हो कर वह दुराचरण की प्रवृत्ति आप स्वयं दिखाता है,

जड़ पदार्थ के सत्कार से कभी भी मनुष्य के मन की उन्नति नहीं होती परंतु सद्‌विचार, महाविचारों में मन लगने से बुद्धि की उन्नति होती है, सत्संगति में दूसरे का सत्कार करने से आत्मा प्रसन्न हो कर प्रीति सदृश उत्तम गुण उस में उत्पन्न होते हैं, यह इतना पूजन अर्थात् सत्कार इस अर्थ से मूर्तिपूजा के विषय में विचार हुआ ॥

अब मूर्ति के षोड़शोपचारपूजा के विषय विचार करना चाहिए—जड़ मूर्ति की केवल जड़ पदार्थ इसी नाते से पूजा नहीं होती—किन्तु प्रथम उस में उस की प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ती है, मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा यह सिर्फ भावना ही है परन्तु भावना का अर्थ विचारणा यह होता है ॥

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

जैसी २ भावना वैसी ही उस को सिद्धि मिलती है ऐसा कोई २ कहने लग जाते हैं परन्तु यह

उन का मिथ्या प्रलाप है—क्योंकि सब मनुष्यों को सदा सुखप्राप्ति की दृढ़ भावना रहती है फिर उन को सर्वदा सुखप्राप्ति क्यों नहीं होती? उसी तरह पर्वत के बीच सुवर्ण की दृढ़ भावना की जाय तो भी पर्वत सोने का कभी नहीं बन सक्ता, हमारी भावना के कारण जड़मूर्ति में कुछ भी फेरफार नहीं होता, प्राणप्रतिष्ठा करने के पश्चात् मूर्ति सचेतन नहीं होती और न कभी वह आंख से देखती है—यह हम सबों को खूब मालूम ही है, अस्तु—परमेश्वर का अखण्ड निश्चय इस सब जगत् भर में चल रहा है उस में हमारी कृति से कोई बदलाबदल नहीं होगी, जो जड़ है वह जड़ ही रहेगा, सचेतन वह सचेतन ही समझा जावेगा, अब रहा यह कि प्राणप्रतिष्ठा के कारण जड़ मूर्त्ति की पूजा के अर्थ मानने का क्या आधार है उसे देखो, तो देखते हैं कि न तो चारों वेदों में, अथवा गृह्यश्रौतसूत्रों में और न षड्दर्शनों में कहीं

भी प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्र दिए हैं, तो फिर—

प्राणेभ्यो नमः ॥

इस प्रकार के प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्र कहां से निकले इस का विचार हम हिन्दुओं को-नहीं नहीं मैं भूला—हम आर्यों को अवश्य करना चाहिए—हिन्दू शब्द का उच्चारण मैंने भूल से किया क्योंकि हिन्दू यह नाम हमें मुसलमानों ने दिया है जिस्का अर्थ काला, काफ़िर, चोर इत्यादि—सो मैंने मूर्खता से उस शब्द का स्वीकार किया था, हमारा असली नाम तो आर्य अर्थात् श्रेष्ठ है—

विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते र-
न्धया शासदव्रतान् ॥ शाकी भव यजमा-
नस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥
(ऋग्वेदः अ० ४। अ० १। व० १०। मं० ८)

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ।
(अष्टाध्यायी पाणिनीय)

भाइयो ! दस्युसदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़नेवाले हम व्रतचारी आर्य हैं सो स्मरण रहे, अस्तु—प्रतिष्ठामयूखादि अथवा लिंगार्चनचिंतामणि इत्यादि तन्त्र ग्रन्थों में के मन्त्र लेकर हम जड़मूर्त्ति को प्राणप्रतिष्ठा करते हैं ऐसा यदि कोई कहे तो हम उन्हें उन तन्त्र ग्रन्थों का कुछ नमूना दिखाते हैं और पूछते हैं कि आया ये ग्रंथ माननीय हो सक्ते हैं वा नहीं ? ॥

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

भला ऐसे २ तान्त्रिक मन्त्रों के बीच वैदिक मन्त्रों का सामर्थ्य कहां से आ सके ? इसीलिये जड़ मूर्त्ति में कभी भी चेष्टा नहीं उत्पन्न होती, इस मन्त्र से स्वाभाविक जड़ पदार्थ में प्राण डालना तो दूर रहा परन्तु स्वाभाविक जीव रहने वाले सावयव मृत शरीर में जिस में प्राण आना

चाहिये, और मुर्दा जिन्दा हो जाय परन्तु वैसा भी नहीं होता तो फिर व्यर्थ ही इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के पाषंड में क्या रक्खा है ? अर्थात् कुछ भी ऐसे पाषण्ड से नहीं निकलता ॥

प्रश्न—भिन्न २ वर्ण तो आप नहीं मानते फिर वर्णाश्रमीय धर्म की व्यवस्था आप कैसे करोगे अर्थात् ब्राह्मण कौन ? वैश्य कौन ? और क्षत्रिय कौन ? तथा शूद्र कौन हो सक्ता है ? ॥

उत्तर—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास। सुसंगति अध्ययनादिकों का अधिकार मनुष्यमात्र को है फिर जिस २ प्रकार जिस २ पर संस्कार होगा उसी २ प्रकार उस की योग्यता मनुष्यमात्र में बढ़ेगी—हमारे देश में कोई बड़ी धर्मसभा नहीं जिस के कारण आश्रम-व्यवस्था और वर्णव्यवस्था कुछ की कुछ हो हो गई है, भला आदमी दुःख उठाता है, चाहिये उतने मजूदूर हर ठौर नहीं मिल सक्ते क्योंकि देश

भर में टोलियां की टोलियां साधुओं की फिरती दिखाई देती हैं, आधुनिक संप्रदायों के अनुकूल जो साधु बने हैं बतलाओ कि उन्हें किस आश्रम में मानें ? क्योंकि शास्त्र का आधार छोड़ लोग मन-माने रहने लगे हैं यह एक प्रकार की ज़बरदस्ती है, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह व्यवस्था गुण कर्म और स्वभाव से की जा सक्ती है और इसी प्रकार प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था थी, वे जन्म से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानते थे, जानश्रुति, जाबाल ये नीच कुल के थे। जाबाल ऋषि की कथा छान्दोग्योपनिषद् में जो कही हुई है कि उस की माता व्यभिचारिणी थी परंतु गुरु के पास जाकर जाबाल सत्य बोला। इतने ही कथन से गुरु प्रसन्न हो कर उस से कहने लगा कि "जाबाल तुम सत्यभाषण के कारण ब्राह्मण हो।" ऐसा कह कर उसे ब्राह्मणत्व दिया, अब पुरुषसूक्त में भी एक श्रुति है उस का भी अर्थ करना चाहिए

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजा-
यत ॥ (यजुः०)

पुरुषसूक्त के बीच में सहस्त्रशीर्षा यह पद बहु-व्रीहि है तत्पुरुष नहीं है जिस प्रकार गंगायां घोषः इस का अर्थ लक्षणा से करना पड़ता है,

इसीप्रकार पद्धति रख कर ऊपर के वाक्य का अर्थ करना चाहिए,

पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा पुरुषः ॥ (निरुक्त का प्रमाण है)

उस पुरुष का मुख अर्थात् मुख्य स्थान अर्थात् विद्वान् ज्ञानवान्, जो हैं वे ब्राह्मण हैं, शतपथ में लिखा है कि "बाहुः" अर्थात् वीर्य ऐसा अर्थ दिया है इस से स्पष्ट है कि वीर्यवानों को क्षत्रिय जानना चाहिए यह व्यवस्था होती है, व्यावहारिक विद्या में जो चतुर हैं वे वैश्य हैं, अब "पद्भ्यां शूद्रो अजायत"

इस स्थल पर पद इस का अर्थ नीच मान कर मूर्ख-त्वादि गुणों से शूद्र होते हैं ऐसा कहना किस प्रकार चल सकेगा तो "यानि तीर्थानि सागरे तानि ब्राह्मणस्य दक्षिणे पदे" इस स्थल पर पद की कितनी भारी योग्यता है यह तुम्हें विदित ही है, इस विचार पर से शूद्र अर्थात् मूर्ख ऐसा ही अर्थ होता है और तब ही मनु जी के वाक्य का अर्थ सम्यक् प्रकार लग जाता है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

सब वर्णों के अध्ययन का जो समय है वह ब्रह्मचर्य है और संसार को एक ओर रख कर अध्ययन करने में, उपदेश करने में, लोककल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे वह संन्यास है, गृहस्थियों को समय इन सब कामों के करने को नहीं मिलता और संन्यासियों को बहुत अवकाश

मिलता है। बस यही मुख्य भेद है, अब यदि कहा जाय कि जन्म ही से ब्राह्मण होता है तो जब कोई ब्राह्मण अपने सदाचरण को छोड़ यवनादिकों के से आचरण करने लग जाता है तो उस का ब्राह्मणत्व क्यों नष्ट होता है ? इस से सिद्ध हुआ कि केवल जन्मसिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं किन्तु आचारसिद्ध है यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है, जिस समय इस आर्यावर्त में अखंड राज्य।अखंड ऐश्वर्य था उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी, अब यदि कोई कहेगा कि गृहस्थाश्रम का अनुभव लिए बिना ही संन्यास न लेना चाहिए तो यह कहना अप्रशस्त है क्योंकि यदि रोग हो तो ओषधि देना बुद्धिमानी है, उसीप्रकार जिस पुरुष को विषयासक्ति की इच्छा नहीं भोगेच्छा भी निकल चुकी है तो उसे नया संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु वह तो स्वयं संन्यासी बना बनाया हुआ है। मार्गों ने कभी भी संसारसुख का अनुभव नहीं

लिया वह सदा ब्रह्मचारिणी थी। संन्यासियों से बड़े २ लाभ होते हैं संन्यासियों को शरीरसंबंध तो केवल होता है। शेष व्यवसाय उन्हें नहीं होते, उपदेश करना वा अधर्म की निवृत्ति करना यह संन्यासियों का मुख्य कर्तव्य कर्म है, अब यदि कोई पूछे कि पुत्रोत्पत्ति विना जन्म कैसे सफल होगा ? तो उन्हें यह उत्तर है कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं। विद्या, और योनि इन दोही सम्बन्धों से पुत्रप्राप्ति होती है, "गरीयान् ब्रह्मदः पिता" मूढ़ लोग जनपद में दुराचार कर। कर किसी आपत्ति में पड़ेंगे सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है परंतु इन दिनों संन्यासियों पर बड़े २ जुल्म हो रहे हैं अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिए, एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहे इत्यादि २ प्रतिबन्ध माने जावें तो भाई बताओ कि वह फिर किस प्रकार

और किसे उपदेश करे? क्या वह एक गांव से दूसरे गांव को दौड़ता फिरे? संन्यासियों को आग को न छूना चाहिए ऐसा भी कहते हैं परंतु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ सकेंगे? अर्थात् वह तो उन में बना ही रहेगा, आधुनिक विश्वेश्वरपद्धतिनामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला हुआ है फिर आधुनिक साधुओं को तन,मन, धन का समर्पण कैसे किया जाय? भाई मन का समर्पण कैसे होगा? और तन का समर्पण करने में क्या मलमूत्रादिकों का भी समर्पण होगा? आधुनिक साधुओं ने कुछ विलक्षण ही व्यवस्था बनाई है, उन्हें वेदशास्त्रों से क्या काम? बिचारे संन्यासियों को अलबत्ता कष्ट होते हैं। मुझे कुछ धन चाहिए इसलिए ऐसा कहता हूंगा यह बात नहीं किन्तु मेरा साक्षी परमेश्वर है, तुम उलटा मत समझना॥

प्रश्न—मूर्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे करते बनेगा ? ॥

उ०—शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं ? आकाश का आकार नहीं तोभी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं ? जीव का आकार नहीं तोभी जीव का ध्यान होता है वा नहीं ? ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है यह किसान भी समझता है, ज्ञान यह ऐसा ही पदार्थ है, योगशास्त्र में ध्यान का लक्षण किया हुआ है—

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ १ ॥
ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५ ॥
(सांख्यशास्त्र)
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥
(योगशास्त्र)

साकार का ध्यान कैसे करोगे ? साकार के गुणों

का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नहीं बनता अर्थात् सम्भव ही नहीं होता कि ज्ञान के पहिले ध्यान हो जाय, देखो एक सूक्ष्म परमाणु का भी अधम, उत्तम मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञानबल से कल्पने में आते हैं, अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है तो विदित होने तक ढकी हुई मुट्ठी की ओर देख-ने ही से केवल उस पदार्थ का ध्यान कैसे करें ? तो इस से मेरा यही कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिए और भी दृढ़तर सबल उपाय हैं उन्हें देखो, अनुमान, उपमान, शाब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये आठ उपाय हैं, अनुमान ज्ञान के सन्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है अब यह विचारणीय है, अस्तु, ओम् शांतिः शांतिः शांतिः ॥

ओ३म्

श्री१०८श्री दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान ॥

(३)

वेदविषयक

जिसको

पं० गणेश रामचन्द्र शर्म्मा उपदेशक मारवाड़ ने

महाराष्ट्रीय से

नागरी भाषा में उलथा किया

और

बा० रामविलास सारदा मन्त्री ने

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा राजस्थान की

ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक-यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९५० श्रावण

तारीख १२ जौलाई सन् १८७५

श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का व्याख्यान—४

वेदविषयक

ओ३म् दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (य० अ० ३६ । मं० १८)

आज के व्याख्यान का विषय वेद यह है, तीन प्रकार से इस विषय का विचार करना चाहिए, वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? वेद का कर्ता कौन है ? और वेदों का प्रयोजन क्या है ? परमेश्वर वेदों

का कर्ता है वेद अर्थात् ज्ञान, वेद अर्थात् विद्या, ज्ञान या विद्या ये सम्पूर्ण सृष्ट पदार्थों के बीच उत्तम हैं, ज्ञान सुख का कारण है, ज्ञान के विना सुखकारक पदार्थ भी दुःखकारक होता है क्योंकि ज्ञान के विना पदार्थ की योग्य योजना करते नहीं बनती, अनन्त ज्ञान ईश्वर का है इसीलिए "अनन्ता वै वेदाः" ऐसा वचन है, अनन्त यह उस की संज्ञा है, अनन्तज्ञानसम्पन्न परमेश्वर मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिए और उसे ऊंचे दरजे को पहुंचाने के लिए सदा प्रवृत्त है और इसी हेतु को सफल करने के लिए विद्या का प्रकाश करता है सो वही प्रकाश वेद है, मनुष्य इस अनन्त ज्ञान के लिए अर्थात् वेदज्ञान के अर्थ योग्य अधिकारी है, इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य से नहीं है, अब यदि ईश्वर साकार नहीं तो उस ने वेद का प्रकाश कैसे किया ऐसा प्रश्न उद्भव होता है, तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि

जिस अधिकरण में नहीं हैं तो वहां से शब्दोच्चार कैसे बनेगा ? इस का उत्तर देना सरल है, ईश्वर सर्व-शक्तिमान् है तो फिर सहज ही में यह सोच सक्ते हैं कि उसे मुखादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं संभव होतो, शब्दोच्चार को संयोगादि कारण अल्पशक्ति वालों को लगते हैं किञ्च :—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥
(मुण्डकोपनिषद्)

आप सब यह कबूल करते हो कि हाथ के विना ईश्वर ने सब सृष्टि की रचना की फिर भला मुंह बिना वेद की रचना क्यों न हो सकेगी ? कोई यदि ऐसी शंका करे कि वेदरूपी पुस्तकों की रचना तो शक्य काम है इसलिए ईश्वर को साक्षात्

कृति की कल्पना न करे परंतु इस स्थल पर जरा विचार करना चाहिए, विद्या और जड़सृष्टिरचना में महत् अन्तर है, जड़सृष्टिरचना ही केवल परमेश्वर ने करदी तो इस से उस का बड़ा सा माहात्म्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि विद्या के सन्मुख जड़सृष्टिरचना कुछ भी नहीं है इसलिए विद्या का कारण भी ईश्वर ही है ऐसा मानना चाहिए,अन्य क्षुद्र पदार्थ निर्माण कर २ विद्यारूपी वेद ईश्वर उत्पन्न न करे यह कैसे हो सकेगा ? अब वेदविद्या ईश्वर से उत्पन्न हुई तो इस का तात्पर्य क्या है ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है तो उस का उत्तर यह है कि आदिविद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूल तत्वमात्र ईश्वरद्वारा प्रकाशित हुई उस का विशेष प्रभाव मनुष्यों के हाथों से अभ्यासद्वारा होता है, अब यह आदिविद्या अर्थात् वेद ईश्वर ने प्रकाशित किए हैं उस के प्रमाण —

प्रथम प्रमाण यह कि वेद में पक्षपात नहीं, ईश्वर

सब दुनियां पर उपकार करने वाला है इसलिए तत्प्रणीत जो वेद उस में पक्षपात का रहना कैसे सम्भव होगा ? इसी तरह ईश्वर न्यायकारी है इसलिए उस में पक्षपात की सम्भावना नहीं हो सकी, जिस में पक्षपात हो वह विद्या ईश्वरप्रणीत नहीं है। इस का उदाहरण देखो कि वेद की भाषा क्या ? संस्कृत हो ना ? तो बतलाओ कि संस्कृत भाषा वेदों की होने में क्या पक्षपात नहीं है ? ऐसा कोई कहे तो उस का यह कहना ठीक नहीं है संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है, अंग्रेजी-सदृश भाषाएं उस से परंपरा से उत्पन्न हुई हैं। एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है "वयं" इस संस्कृत शब्द में के "यम्" को सम्प्रसारण होकर "वुई" यह शब्द उत्पन्न हुआ, इसी तरह "पितर" से "पेतर" और "फादर" "यूयम्" से "यू" और "आदिम" से "आदम" इत्यादि ऐसे २ अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ

अपभ्रंश यथेष्टाचार से भी होते हैं इस के बारे में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है, ईश्वर में जैसा अनन्त आनन्द है उसी तरह संस्कृत भाषा में भी अनन्तानन्द है, कहो कि इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक सर्व भाषाओं की माता अन्य कौन सी भाषा है? अर्थात् कोई भी दूसरी नहीं। अब यदि कोई कहे कि यह भाषा एक ही देश की क्यों होना चाहिए? तो देखो कि संस्कृत भाषा एक ही देश की नहीं है, सर्व भाषाओं का मूल संस्कृत में है इसलिए सर्व ज्ञान का मूल जो वेद वे भी संस्कृत ही में हैं। जिस२ देश में संस्कृतभाषा घुसी है उस २ देश में के विद्वान् लोगों के मन का आकर्षण करती जाती है और यह दूसरी भाषाओं के मातृस्थान में है, ऐसी योग्यता प्राप्त करती जाती है फिर देखो कि वेद ही में की कुछ २ मुख्य २ बातों का प्रचार जगत् में के सारे देशों में चल रहा है, यहूदी लोग सदा

वेदी रच कर यज्ञ करते रहते थे, यह ज्ञान उन्हें कहां से प्राप्त हुआ था ? उन्हें होता, उद्‌गाता ब्रह्मा इन की व्यवस्था के साथ यज्ञ करना विदित नहीं परंतु इसमें कुछ अधिक विशेष नहीं, हम आर्यों की रीतियों की उन्हें भूल पड़ी है इसी तरह पासी लोग भी अग्यारी में अग्निपूजा करते हैं, क्या यह आचार वेदमूलक नहीं है? वेद में पक्षपात नहीं है यह स्पष्ट है, यहूदी लोग अन्य लोगों का द्वेष करना सीखे थे। मुसलमान लोग दूसरों को "काफिर" कहते हैं, और उन के धर्मपुस्तकों में ऐसा करने की प्रेरणा की गई है। परन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिये वेदों में उत्तेजन नहीं है, इसलिये वेद ईश्वरप्रणीत हैं ऐसा होता है।

द्वितीयप्रमाण—वेद यह सुलभ ग्रंथ है, अर्वाचीन पण्डितअवच्छेदक अवच्छिन्न पदों को घुसेड़ कर बड़े लम्बे चौड़े परिष्कार करतेहैं, परन्तु उन परिष्कारोंमें

केवल शब्दजालमात्र रहता है विशेष अर्थ गांभीर्य नहीं होता, इस प्रकार वेद ग्रन्थ नहीं हैं, अब कोई कहें कि दुर्बोध के कारण परिष्कार में काठिन्य पाण्डित्यसूचक है, तो आप जानते हैं जब कि कव्वे आपस में लड़ते हैं तब उनकी भाषा का अर्थ किसी को भी नहीं समझ पड़ता तो क्या इस से दुर्बोध के कारण काकभाषा में पाण्डित्य की सम्भावना होगी ? कभी नहीं, अस्तु, वाक्सुलभता और अर्थगांभीर्य यही सामर्थ्य का प्रमाण है, ज्ञानप्राप्ति क्लेश बिना होना यह ईश्वरकृतिदर्शक है, यूंही "शक्यताअवच्छेदक शक्यताअवच्छिन्न" कहने की जगह सुलभ शब्दों से जो भगवान् वात्स्यायन जी ने प्रतिपादन किया है उसे देखो—

प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानीति शक्यप्राप्तिः ।

इसी सुलभता के कारण वात्स्यायन महापण्डित

क्या आधुनिक शास्त्रियों की अपेक्षा पागल ठहराया जासक्ता है ? नहीं नहीं। फिर वात्स्यायन जी की भाषा की अपेक्षा तो वेदों की भाषा तो लाख दरजा सरल है।

तृतीयप्रमाण—वेदों से अनेक विद्या और शास्त्र सिद्ध होते हैं जैसे—

नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीची-
र्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ॥
तेभ्यो नमो अस्तुते नोवन्तु ते नो मृडयन्तु ते।
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भेदध्मः ॥
(य० सं० अ० १६ । मं० ६४)

मनुष्यों के किए हुए पुस्तकों में एक ही विषय का प्रतिपादन रहता है, जैमिनि जी सारे मत का प्रवाह एक धर्म और धर्मो इस विषय में विचार करते २ पूर्ण हुआ, भगवान् कणाद के मन का ओघ

षट् पदार्थों के विवेचन के विचार ही में समाप्त हुआ। इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ, व्याकरण भाष्य और योग-शास्त्र की व्यवस्था लगाने में भगवान् पतञ्जलि जी की सारी आयु बीती परन्तु वेद ये अनन्त विद्या के अधिकरण हैं इसलिए वेद मनुष्यकृत नहीं हैं किन्तु ईश्वरप्रणीत ही हैं। अब सारी विद्याओं के अधिकरण वेद हैं अर्थात् वेद में सारी विद्याओं के मूलतत्वों का दिग्दर्शनमात्र है, उदाहरणार्थ देखें—

वाराह्योपानहोपनह्यामि० ॥
सहस्रारित्रां शतारित्रां नापमित्यादि०
एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे० ॥ य०सं०

प्रथम उदाहरण में रचनाविशेष का निरूपण किया हुआ है। दूसरे में नौकाशास्त्र का निरूपण किया है और तीसरे में गणितशास्त्र का निरूपण बतलाया है।

अब यदि कोई पूछे कि ईश्वर ने सब विद्याओं

के मूलतत्व ही क्यों प्रकाशित किए और साद्यन्त विद्या का और कला का क्यों विवरण नहीं किया? तो उस से मेरा यह कहना है कि जैसे ईश्वर ने मनुष्यमात्र के बुद्धिव्यापार को उसी तरह बुद्ध्युन्नति को भी अवकाश रक्खा ।

चतुर्थ—कोई २ ऐसी शङ्का भी करें कि अनेक पुरुषघटित वेद हैं तो इस का यह उत्तर कि यदि अनेक पुरुषघटित वेद होते तो वेदों में एकवाक्यतादि गुण हैं उन की व्यवस्था कैसी लगाओगे ? अब पूर्वकाल में भिन्न २ विद्याएं भरतखण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं जैसे विमानविद्या अस्त्रविद्या, इत्यादि विद्याओं के पुस्तक नष्ट होने से वे विद्याएं भी नष्ट हो गईं मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया, सन् १८५७ के साल में सुना जाता है कि जब दंगा फसाद हुआ था उस समय किसी एक

यूरोपियन ने अमृतराव पेशवों के भारी पुस्तकालय में आग लगादी थी ऐसी दन्तकथा है। इस पर बिचार करो कि कितनी विद्या नष्ट होती आई है। उपरिचरनामक राजा था वह सदा भूमि को स्पर्श न करता हवा ही में फिरा करता था, पहिले जो लोग लड़ाइयां करते थे उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी, मैं ने भी एक विमानरचना का पुस्तक देखा है, भाई उस समय दरिद्रियों के घरमें भी विमान थे। भला सोचो कि उस व्यवस्था के सन्मुख रेलगाड़ी की प्रतिष्ठा क्या हो सक्ती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

पञ्चम—वेद सनातन सत्य हैं, इस से उनका सामर्थ्य भी बहुत बड़ा है। देखो कि शार्मण्य (जर्मन्) देशों में के लोग वेदों का अवलोकन कर कर उन की कीर्ति और गुणानुवाद गा रहे हैं। इसी तरह सब देशों के विद्वानों के मन का आकर्षण वेद के

सत्य के सामर्थ्य से हो रहा है। अब सारांश यह है कि सत्यता, एकवाक्यता, सुगमरचना, भाषालावण्य, निष्पक्षपात, सर्वविद्यामूलकत्व, ये गुण वेदों ही में केवल सम्भावित होते हैं। इसी से वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, इन दिनों हमारे अंग्रेजी पढ़े हुए लोग अंग्रेजीग्रन्थों की लटपट देख कर वही सच है ऐसा मानते हैं सो यह ठीक नहीं है। हमारे बड़े भाई शास्त्री लोग तो परंपरा न छोड़ने के विषय पूरे हठी हो गए हैं यह भी ठीक नहीं है क्योंकि रेल में प्रवास करते समय उन की परंपरा का हठ किधर जा घुसता है ? क्या बाप अन्धा होतो पुत्र को भी अपनी आंखें फोड़ लेनी चाहिए। मत-लब—इतनी परम्परा को पकड़ रखने से धर्मप्रबन्ध में बड़ी ही गड़बड मच गई है, इस गड़बड़ को वि-चारने से कलेजा धड़कने लग जाता है, देखो चारों ओर जातिविभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं, पहिले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं

और भुशुंडी अर्थात् बन्दूकें भी थीं, यह सब हमारा बल किधर चल दिया ? अग्नि अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ ? आज कल के पण्डित लोग ऐसा कहते हैं कि पहिले केवल मन्त्रोच्चार के सामर्थ्य से आग्नेयास्त्रादि निर्माण होते थे परन्तु ऐसा नहीं, मन्त्रों के कारण आग उत्पन्न होती थी यदि ऐसा मानें तो मंत्र बोलने वाला स्वयं कैसे नहीं जलता था ? तो भाई ऐसा नहीं। मन्त्र अर्थात् विशेष अक्षर आनुपूर्विक अर्थात् शब्दों में और अर्थों में संकेतमात्र जो सम्बन्ध है वह और सामर्थ्य नहीं। जैसे अग्निशब्द में दाहकत्व नहीं है तद्वत् मंत्र जपने से कोरा समय खोना है, व्रतबन्ध (जनेऊ) के समय लड़के का अल्पसामर्थ्य रहने से एक ही मंत्र उसे बार २ रटना पड़ता है इस से यह मंत्र का सच्चा विनियोग नहीं है। मंत्र अर्थात् विचार, राजमंत्री कहने से विचार करनेवाला यही सत्य अर्थ होगा। यदि यह अर्थ न मानो तो राजमंत्री वा अमात्य का—राजा का

माला लेकर जप करने वाला ऐसा अर्थ करना प-
ड़ेगा तो मंत्री शब्द का अर्थ जप करनेवाला नहीं
किन्तु विचार करने वाला ही होता है, तो वेदमंत्र
का सच्चा विनियोग करना अर्थात् बुद्धिवैशद्य, बुद्धि यु-
न्नात, बुद्धिप्रकाश, बुद्धिसामर्थ्य का बढ़ाना यह है,
इस प्रकार का सामर्थ्य पहिले आर्यों में था वे एक
ही मंत्र को लेकर जपने नहीं बैठते थे परन्तु अनेक
मंत्रों की मीमांसा करते थे इसीलिए वारुणास्त्र,
आग्नेयास्त्रादि उन्हें विदित थे अर्थात् पदार्थों के गु-
णों को जान उन की विशेष योजना वे करते थे,
विशल्यौषधिनामक उन्हें एक ओषधि विदित थी
जिस से कैसी ही जखम क्यों न हो इस ओषधि से
झट भर आती थी पहिले बंगाल में आर्य लोगों की
वैद्यकविद्या की लोग हंसी उड़ाते थे परन्तु डाक्-
टर महेन्द्रनाथ सर्कार सदृश विद्वान् पण्डित ने च-
रक सुश्रुत सदृश ग्रन्थों का उज्जीवन किया जिस
से अंग्रेजी सीखे हुओं का भ्रम दूर हुआ महेन्द्र-

नाथ ने प्राचीन आर्यग्रन्थों के उज्जीवन करने के लिए बहुत सा धन इकट्ठा करने का प्रयत्न चलाया है सो यह उन का भूषण है, पदार्थज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

सृष्ट पदार्थों के विवेचन करने के लिए, उसी तरह ईश्वर के ज्ञानप्राप्त्यर्थ बुद्धिसामर्थ्य को सम्पादन करना यह वेदाध्ययन का प्रयोजन है, वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और व्यास जी ने संग्रह अर्थात् संहिता बनाई ऐसा आजकल के पौराणिक पण्डित कहते हैं परंतु भाई इस में उन की भूल है क्योंकि मनु ने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया, ब्रह्मा जी का चतुर्मुख ऐसा नाम है इस से यह नहीं समझना कि सच-

मुच उन के चारही मुंह होंगे, यदि सत्य में ऐसे चार मुख होते तो वेचारे ब्रह्मा जी को बड़ा ही दुःख हुआ होता और फिर वेचारा सुख से कैसे सोता, तो ऐसा नहीं है किन्तु 'चत्वारो वेदाः मुखे यस्य" इति चतुर्मुखः" ऐसा समास करना चाहिये, प्रथमारम्भ में ईश्वरज्ञान से इन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद प्रकाशित हुए और उन से ब्रह्मा जी सीखे और पश्चात् उन्हों ने सारी दुनियां भर में फैलाये और उन से मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ इसलिए उन का वेद ऐसा नाम है और पहिले ऋषि लोग एक दूसरे से सुनते आये इसलिए श्रुति ऐसा वेदों का नाम है।

अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरस् इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुए, इस पर कोई कहेगा कि ये आदि में चार ही ऋषि क्यों थे, एक या अधिक क्यों न थे तो ये शङ्कायें पांच या तीन भी

होते तब भी बनी रहती, यह अशोकवनिका न्याय होगा। अब कोई कहेगा कि वेद आधुनिक हैं और नित्य नहीं हैं? क्योंकि ब्रह्मदेव के मन में ज्ञान-लहर उत्पन्न हुई और उसी समय से वेद की परम्परा कहते बनती है फिर नित्य कैसे? सो भाई इस प्रकार नहीं है। देखो ईश्वर का अपूर्व ज्ञान है और ज्ञानरचना नित्य है। सृष्टि का तथा वेदों का आविर्भावतिरोभावही केवल है, क्योंकि:—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्॥
(ऋ० सं० अ० ८। अ० ८। व० ४८)

इत्यादि वचन ईश्वरीय नित्य ज्ञान का प्रमाण हैं, ब्रह्मा जी के पीछे विराट् उत्पन्न हुआ फिर वसिष्ठ नारद, दक्षप्रजापति, स्वायंभव मनु आदि हुए, इन सब ऋषियों के मन में ईश्वर ने प्रकाश किया,

अब यह व्याख्यान पूर्ण करने के पूर्व वेदविषय में साधारण विचार करना चाहिए, कोई २ कहते

हैं कि चांद सूरज आदि भूतों की पूजा वेदों में उपदिष्ट है परन्तु यह कहना बिलकुल असम्भव है,

शुक्लयजुर्वेद

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

तथा—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ।
स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ॥ ऋ सं०

अग्नि, इंद्र, वायु ये सब परमेश्वर ही के नाम हैं इसलिए अनेक देवताओं का वाद बिलकुल ही नहीं रहता,

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
(मनु० अ० १२)

परिच्छेद, प्रकार विकार इत्यादि सम्बन्ध से एक ही आत्मा के भिन्न २ नाम होसक्ते हैं।

कोई २ कहते हैं कि वेदों में बीभत्स कथा भरी हुई है माता च ते पिता च ते, इस वचन पर महीधर ने भाष्य कर २ बड़ा ही बीभत्सरस उत्पन्न किया है गभे के स्थान पर वर्णविपर्यास कर २ भगे यह शब्द निकाला है परन्तु इस संबन्ध में शतपथ ब्राह्मण को देखो—

"वृक्षवृक्षो राज्यं भगश्रीः स्पसो
राष्ट्रं श्रीर्वा वृक्षस्याग्रम्,,

इस प्रकार राष्ट्र के स्थान पर इस वचन की योजना करने से बीभत्सपन नहीं रहता।

इसी तरह पुराणों में काश्यपीय प्रजा का वर्णन है, मरीचि का पुत्र कश्यप है दक्ष की साठ कन्याओं में से तेरह कन्याओं के साथ कश्यप का विवाह हुआ इस प्रकार का वर्णन किया हुआ है, इस कथा के

लिये वेदों में कहीं भी आधार नहीं है, कश्यप अर्थात् आद्यन्त के विपर्यास से "कः पश्यः" परमात्मा नाम तो होसक्ता है ।

कः पश्यः सर्वदृक् परमात्मा गृहीतः ॥

इसी प्रकार हर किसी ने "ब्रह्मोवाच" लगाकर कुछ कथा बना पुराणों का पाखण्ड रचा है। इस प्रकार का दुष्ट उद्योग आधुनिक संप्रदायी लोगों ने तो बहुत ही किया है।

ब्रह्मोवाच॥टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं । पदम् यस्य गृहे टका नास्तिहा टका टकटकायते॥

इस सम्प्रदाय का बाज़ार आज कल खूब गरम है। इस के कारण जो दुकानदारी प्रारम्भ हुई है उसे सम्प्रदायी लोग क्योंकर छोड़ेंगे ? यजमान की चाहे तीन क्या दश जन्मतक की भी हानि होतो उन्हें क्या मतलब ? इसलिए जब सब स्त्री पुरुष

सर्वत्र वेदों को अवलोकन करैंगे तब इन संप्रदायियों की लटपट बन्द होगी तब हो कांठीद्वारा वैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा। भाई सोचो जो एक ही कंठी से वैकुण्ठ मिल जाय तो बिसाती की कुल कण्ठियों की पेटियां गले में लटकाने से संसार में क्यों सुख नहीं होता ? चन्दन तिलक छापों से यदि स्वर्ग मिल जाय तो सारे मुंहपर चन्दन लीपने से क्यों न सुख मिले ? इसलिए भाई सोचो ! चन्दन तिलक,कण्ठी ये सब पाखण्ड सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य हरण करने के लिए हैं,ये सच्चे तीर्थ नहीं हैं, सच्चे तीर्थ कौन से हैं सो इस के विषय वचन है :—

(छन्दोग्य उपनिषद्)

अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यः ॥

सतीर्थ्यः।।सब्रह्मचारी॥विद्या व्रतस्नातः ॥

ब्रह्मचारी पुरुष विद्यास्नात। व्रतस्नात होतेथे, इस से वेदविद्या ही मुख्य तीर्थ है

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हुई पुस्तकों की सूची

राधास्वामीमतखंडन मू० =)॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान

ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तरसहित (१) मू०)।

व धर्माऽधर्मविषयक (२) ,,)॥

व वेदविषयक (३) ,,)॥

पुराणों की शिक्षा ,, डेढ़पाई

मृतकश्राद्धविषयक प्रश्न ,, डेढ़पाई

लिङ्गपूजाविधान उर्दू ,,)।

फर्यादपोप उर्दू ,, -)

सङ्गीतसङ्ग्रह ,,)॥।

बूंदीशास्त्रार्थ ,, =)

मसलेनियोग–टी. विलियम साहब के जवाब में, मू० डेढ़पाई

इकट्ठी लेनेवालों के लिये विशेष नियम :–

मिलने का पता–
पुस्तकाध्यक्ष आर्य्यसमाज
अजमेर

ओ३म्

श्री १०८ श्री दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान ॥

(५)

जन्मविषयक

जिसको

पं० गणेश रामचन्द्र शर्म्मा उपदेशक मारवाड़ ने

महाराष्ट्रीय से

नागरी भाषा में उल्था किया

और

बा० रामविलास सारदा मन्त्री ने

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा राजस्थान की

ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक-यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९५० आश्विन

प्रथमबार २०००

मूल्य

ओ३म्

तारीख १७ जौलाई सन् १८७५ ई०

श्री१०८स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी

काव्याख्यान-५

जन्म विषयक

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैः स्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

(ऋ० सं० मं०१। अनु०१४। सू०८९। मं० ८)

यह ऋचा स्वामीजी ने प्रथम कही

आज के व्याख्यान का विषय जन्म यह है, अब जन्म का अर्थ क्या है इस का लक्षण प्रथम करना चाहिए, शरीर के व्यापार और क्रिया करने योग्य परमाणुओं का जब संघात होता है तब जन्म होता है अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर क्रिया योग्य जब शरीर होता है तब जन्म होता है। सारांश यह है कि इन्द्रिय और (प्राण) अन्तःकरण ये रीरके मध्य जब उपयुक्त होते हैं तब जन्म होता है, जन्म अर्थात् शरीर और जीवात्मा का संयोग, तो इस से स्पष्ट है कि शरीर और जीवात्मा का वियोग भी मरण कहलाता है, अब इस जन्मान्तर के विषय में अनेक मत हैं, कोई २ कहते हैं कि मनुष्य का एक ही जन्म है अर्थात् मरनेके पश्चात् फिरपुनर्जन्म नहीं होता और दूसरे लोग कहते हैं किजन्म अनेक हैं अर्थात् मनुष्य को मरने पर फिर दूसरे जन्म हैं ॥

हमाराज सिद्धान्त—मनुष्य का पुनर्जन्महै अर्थात् न्म अनेक हैं ऐसा है :—

एकजन्मवादियों के और अनेकजन्मवादियों के कहने में बहुत सी युक्ति प्रयुक्तियों का आधार है अब उन युक्ति प्रयुक्तियों का विचार करें, "गतानुगतिको लोकः" इस न्याय से परंपरागत ज्ञान का स्वीकार करना यह विद्वानों को उचित नहीं, तर्क वितर्क कर कर निर्णय करना यह विद्वानों का मुख्य कर्तव्य है—

एकजन्मवादी ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं कि इसमें जन्म के पूर्व यदि कोई जन्म होता तो उस का ह कुछ तो भी स्मरण रहना चाहिए था और जबकि पूर्व जन्म का कोई स्मरण ही नहीं है तो इस से यही कहना ठीक है कि पूर्वजन्म न था ॥

इस पूर्व पक्ष का समाधान हम यूं करते हैं कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का है एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक है, स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है, और नैमित्तिक ज्ञान को घटती, बढ़ती, न्यू-

नाधिक, और हानि आदि का प्रसंग आता रहता है।
इस का दृष्टान्त—जैसे अग्नि में दाह करना यह स्वा-
भाविक धर्म है अर्थात् यह धर्म तो अग्नि के परमा-
णुओं में भी रहता ही है। यह उस का निज धर्म
उसे कभी भी नहीं छोड़ता। इसलिए अग्नि की दाहक-
शक्ति का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान सम-
झना चाहिए। फिर देखो कि संयोग के कारण जल
में उष्णता यह धर्म उत्पन्न होता है और ऐसा ही
वियोग होने से उष्णताधर्म नहीं रहता, इसलिये जल
के उष्णताविषय का जो ज्ञान है वह नैमित्तिक ज्ञा-
न है और जल में शीतलता विषय का जो ज्ञान
वह स्वाभाविक ज्ञान होता है, अब जीव को—मैं हूं
अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभा-
विक ज्ञान है, परन्तु चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों
से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मा का नैमि-
त्तिक ज्ञान है, यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से
उत्पन्न होता है, देश, काल, और वस्तु। इन तीनों

का जैसा २ कर्मेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है वैसे२संस्कार आत्मा पर होते हैं, अब जैसे ये निमित्त निकल जाते हैं वैसे२इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है। अर्थात् पूर्व जन्म का देश।काल, शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता। इस को छोड़ इस विचार में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि ज्ञान काही स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपत् क्रम से होता है अर्थात् एक ही समयावच्छेद करके आत्मा के बीच दो तीन ज्ञान। एकदम नहीं स्फुरने लगते, इस नियम को लापिका से पूर्वजन्म के विस्मरण का समाधान भली भांति हो जाता है। इस जन्म में मैं हूं अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक २ रहता है। इसीलिये पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता.

फिर इसी जन्म ही में कैसी २ व्यवस्था होती है इस का भी विचार करें। मैं ही जो इतना भाषण

कर चुका हूं उस भाषण का उसी तरह उस सम्ब-न्ध के मनोव्यापार की सब परंपराओं का मुझे कहां स्मरण रहा है ? हां ! भाषण के स्थूलावयव का तो अवश्य स्मरण रहा है परंतु बोलते ही बोल-ते सूक्ष्म अवयवों का विस्मरण हो गया है इस से यह नहीं मानते बनता कि मैंने भाषण ही नहीं किया. फिर देखो जो बातें बाल्यावस्था में हुईं उन का अब विस्मरण हुआ है सो इस से वे बाल्यावस्था में थीं ही नहीं ऐसा नहीं मानते बनता। पुनरपि जागृत अवस्था में जिन २ बातों का स्मरण रहता है उन २ बातों का निद्रा में सर्वथैव विस्मरण होता है, इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म का स्मरण नहीं होता इतने ही से पूर्व जन्म का असम्भवपना सिद्ध नहीं होता—दो जन्म के बीच मृत्यु आ फसी है और मृत्यु होना अर्थात् महाव्यावृत अंधकारके बीच में गिरना है,

फिर देखो मन का धर्म कैसा है इस का विचार

करो। मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सन्निदु पदार्थ के विषय राग द्वेष उत्पन्न करता रहे, सान्निध्य छूट-ने से उस को विस्मरण होता है फिर अर्थात् जो पूर्वजन्मावस्था में के दूरगत पदार्थों के विषय यदि आत्मा को विस्मरण होता है तो इस में आश्चर्य ही क्या है, अर्थात् इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं, मैं एक दृष्टान्त देता हूं—पाठशाला में कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन करते रहते हैं उन में से कुछ लड़कों को अपने विषयों की समझ झट उत्पन्न हो जाती है तो दूसरे कुछ ऐसे भी होते हैं कि उन्हें वह विषय उपस्थित या समझने के लिए कुछ विलंब लगता है परंतु तीसरे को तो उसी विषय को उपस्थित करने में बड़ी ही कठिनता पड़ती है, इस प्रकार यहीं के यहीं जो उत्तम बुद्धि, मध्यम बुद्धि और अधम बुद्धि ऐसे भिन्न २ प्रकार दीखते हैं तो फिर भला मरने के पीछे पूर्व जन्म के ज्ञान की उ-पस्थिति के विषय कितनी दिक्कत होती होगी यह

सहज ही ध्यान में आसक्ता है, इस से जन्म एक ही है ऐसा प्रमाण मानना यह बिलकुल युक्ति-विरुद्ध है,

ज्ञान यह आठ प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष। अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य। अर्थापत्ति। संभव और अभाव ऐसे आठ प्रकार हैं। इन में इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान यह तो बिलकुल ही क्षुद्र है, अव्यभिचारी, अव्यपदेश्य और निश्चित ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षरूप से कभी भी नहीं होता,

इस से दूसरे ज्ञानसाधन का अवलम्बन करना आवश्यक हुआ, दृष्टान्त—कि जो कोई वैद्य नहीं है ऐसे पुरुष को यदि रोग हो जाय तो वह नहीं जान सक्ता कि मुझे किस कारण से यह रोग हुआ तो फिर उस बेचारे को निदान का ज्ञान तो कहां से हो सक्ता है? जो भी रोगी को ऐसायज्ञान नहीं है तो भी इस से यह कहते नहीं बनता कि उसे रोग ही नहीं है। क्योंकि कारण बिना कार्य

नहीं होता, इसलिये इस रोग का भी कुछ ना-कुछ कारण होना ही चाहिए ऐसा अनुमान होता है, रोगी को कारण का ही केवल ज्ञान न होने से रोग का कारण नहीं है ऐसा भी क्या कभी किसी ने माना है? कभी नहीं। आगे रोग देख कर और उस का निदान और चिकित्सा कर २ अमुक २ कारण से यह रोग उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान प्रमाण बल-पूर्वक वैद्य ठहराता है और फिर वह बात हमें भी स्वीकार करनी पड़ती है, ऐसी योग्यता अनुमान-प्रमाण की है, अस्तु० परमात्मा न्यायकारी और निर्पक्ष है यह बात भी सब स्वीकार करते हैं ऐसे न्या-यकारी परमात्माद्वारा निर्मित संसार में लोगों की स्थिति के बीच और सुखलाभ में बड़ा ही भेद दीखता है यह भी निर्विवाद है। इस के विषय दृ-ष्टान्त देना चाहिए। देखो! एक ही मा बाप के दो पुत्र हुए और उन्हें एक ही गुरु के पास अध्ययन के लिए रक्खा और उन के खाने पीने की व्यवस्था

भी एक ही सी रक्खो, ऐसा होते हुए भी एक लड़के की धारणाशक्ति उत्तम होकर वह बड़ा विद्वान् नीतिमान् होता है तो दूसरा भूलनेवाला, मूर्ख ऐसा ही रहता है, सो बतलाओ इस का क्या कारण है? इस बुद्धिभेद का कारण इस जन्म में तो कुछ भी नहीं है और भेद तो प्रतीत होता है, यदि यह कहें कि ऐसा निरर्थक भेद ईश्वर ने किया तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है, यदि कहें ईश्वर ने नहीं किया तो भेद की उत्पत्ति नहीं होती. तो इस से पूर्वजन्म है ऐसा ही मानना अवश्य होता है। पूर्वजन्मार्जित पाप पुण्य के अनुसार यह व्यवस्था होती है ऐसा माने बिना दूसरी कोई भी कल्पना नहीं जमती, अस्तु–एक जन्मवादी ऐसा कहेंगे कि ईश्वर स्वतंत्र और स्वच्छाचारी है जैसे कोई माली अपने बगीचे में चाहे जैसे वृक्ष लगाता है और चाहे उसे खात डाल बढ़ाता है उसी तरह इस जगत् में ईश्वर की लीला है, इस प्रकार का स्वातंत्र्य ईश्वर में मानने

से ईश्वर के न्यायत्व की हानि होती है और उन्मत्तप्रसंग ईश्वर पर आता है परंतु सब प्रकार सृष्टिक्रम के और वेद के अवलोकन से परमेश्वर न्यायी है ऐसा सिद्ध होता है तब इस विरोध का निराकरण करने के लिए पूर्वजन्म था ऐसे मानना हो चाहिए. यदि ऐसा न मानें तो स्थितिभेद कैसा उत्पन्न होता है इसका समर्पक (ठीक २) उत्तर नहीं मिलता। संग प्रसंग भेद से यह स्थिती भेद हुआ ऐसा भी कहते नहीं बनता क्योंकि संग प्रसंग भेद की कल्पना जहां नहीं है ऐसी जो माता के उदर में की स्थिति वह भी सबों के लिए कहां समान रहती है? पेट में होते हुए एक जीव के लिए सुख होता है तो दूसरे को वहीं क्लेश होते हैं। एक धर्मात्मा के पेट जन्मता है और दूसरा पापस्थान में जन्म लेता है तो बताओ यह भेद कहां से और क्योंकर हुआ? पूर्वजन्म न मानने से इस भेद के कारण ईश्वर पर कितना भारी दोष आता है इस का कुछ विचार

करो, पूर्वजन्म के विषय उपरोक्त अनुमान के सिवाय एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, जीव की शरीरचेष्टा होने के पूर्व(प्रथम)हमे प्रत्यक्ष होती है फिर आत्मा पर संस्कार होता है फिर स्मृति होती है और पश्चात् किसी कार्य के विषय प्रवृत्ति निवृत्ति होती है। यह प्रकार सर्वत्र प्रतीत होता है,अब देखो कि शरीरयोनि में से बच्चा बाहर पड़ने के पूर्व पेट में था, बाहर गिरते ही श्वास लेने वा रोने लगता है तो यह प्रवृत्ति उसे पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगी? माता का स्तन खींच कर दूध पीने लगजाता है यह प्रवृत्ति कहां से थी ? दूध के विषय तृप्त होने पर निवृत्त होता है तो यह निवृत्ति भी किस प्रकार की है ? माता ने कुछ धमकी दी तो झट बच्चा समझता है तो यह पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगा ? इस से निश्चयपूर्वक पूर्वजन्म था यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है- पुनरपि—सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और

लय का क्रम यदि देखा जाय तो उस सादृश्य से जीवसृष्टि का भी पूर्वजन्म था, यह हमारा मध्यम जन्म है और मोक्ष होने तक अभी भी जन्म होने-वाले हैं, इस परंपरा से इस मध्य जन्म की सम्भा-वना तभी हुई जब कि पूर्वजन्म पहिले था क्योंकि उदकुए मे जल न होतो डोल में पानी कहां से आवे ? इस दृष्टांत को योजना इस स्थल पर ठीक होती है, अब कोई यह कहे कि परमेश्वर तो सदा व्यवस्था करते हुए बैठा है और यह व्यवस्था कभी तो बिगड़ती है और कभी सध भी जाती है। जैसे ईसा-इयों के धर्मपुस्तक में कहा है कि ईश्वरने एक सुंदर बगी-चा बनाया और उस में एक स्त्री पुरुष का जोड़ा रख उस एक ज्ञानवल्ली भी लगा रक्खी और परमेश्वर ने दोने स्त्री पुरुषों को आज्ञा दी कि तुम ज्ञान के पेड़ के फल मत खाना अर्थात् तुम अज्ञानी रहो। तब सहज ही उन स्त्रीपुरुषोंने ईश्वरीय आज्ञा को तोड़ा तो परमेश्वर को बड़ा गुस्सा आया फिर तो ईश्वरने उन्हें वह

से इकाल दिया, परन्तु अब सोचो कि यदि ईश्वर की व्यवस्था इस प्रकार बिगड़ गई तो वह सर्वज्ञ कैसे रहा ? इसलिए ऐसी २ व्यवस्था ठीक नहीं, इसी वास्ते एकजन्मवाद भी नहीं जमता, ईश्वर सब जगत् का धारणमात्र करता है परन्तु उसने कृति एक ही दफे कर रक्खी है ऐसा जानना चाहिये, कोई ऐसा न समझे कि उसने सात दिन श्रम किया और फिर आठवें दिन आराम किया अर्थात् विश्राम लिया। यह कहना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के विषय किसी प्रकार नहीं सम्भव होता। उसी प्रकार बगीचे के बीच जो व्यवस्था का—उसे एक समय भूला और फिर उसे ठीक करूं यह ईश्वर के मन में आया इसलिए उसने लोगों के पापनिवारणार्थ यह व्यवस्था की यह कहना भी ठीक २ नहीं सम्भव होता। मनुष्य को स्वमत के विषय सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है यह मनुष्य का स्वभाव है परन्तु सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि दुराग्रह को

फेंक सत्य की परीक्षा करें यही उन का भूषण है.

अब कोई २ ऐसा भी पूर्वपक्ष करते हैं कि, राजा पालकी में बैठता है और कहार पालकी ले जाता है इस में एक को सुख अधिक और दूसरे को दुःख अधिक है ऐसा कहना यह भ्रम है, राजा के मन में परचक्र की अथवा राज्यव्यवस्था की चिन्ता दुःख का पहाड़ उत्पन्न करती रहती है। इसलिए बाहर से जितना राजा को सुख होता है उतना ही अन्दर से दुःख रहता है। रात्रि को नींद आने में भी हाय-बांय मचती है। इधर देखो तो इस के बिलकुल विरुद्ध कहारों को बाहर से तो बड़ा क्लेश होता है पालकी बहना पड़ता है और सूखी रूखी रोटी उसे मिलती है तो भी कम्मल डाल लेटते ही गाढ़ निद्रा में सोता है अर्थात् स्वस्थता से उसे नींद आती है, इस से दोनों स्थितियों में सुख दुःख समान ही है, इस-लिए एक जन्म ही मानना ठीक है। इस पूर्वपक्ष का समाधान सहज ही में किया जासक्ता है :—

श्रीमानों को और दरिद्रियों को, सशक्तों को और अशक्तों को सुख दुःख समान ही है यह कहना सारे अनुभवों के विरुद्ध है, राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और भंगी के भी एक पुत्र हुआ, राजपुत्र को गर्भ-समय में सुख। जन्मते समय सुख, आगे लड़कपन में भी सुख। खाने पीने के और दूसरे सब प्रकार के पदार्थ हाथ में ले खिदमतगार (सवेक) लोग तैय्यार हाजरी में खड़े रहते हैं, इस के विरुद्ध भंगी के लड़के को गर्भसमय में दुःख, जन्मते समय किसी पापाण के सदृश पेट में से बाहर आ पड़ता है, बाल्यावस्था में खाने पीने में भी रोना पीटना मचा रहता है वस्त्र का तो नाम तक निकालते नहीं बनता। अन्न जल के लिए बेचारे को रो २ कर जो घबराना पड़ता है, सारांश—इस प्रकार के अनेक कार्य्य दृष्टिगत होते हैं तो बतलाओ यह सुख दुःख का भेद कहां से आया ? फिर देखो कि सब मनुष्य जीवों को-सम्पत्ति मिले और अपने से श्रेष्ठ लोगों की सी

स्थिति प्राप्त हो यह स्वाभाविक इच्छा रहती ही है यह भी तुम देखते ही रहते हो, इस इच्छा के कारण सब संसार का क्रम चल रहा है इस से सिद्ध हुआ कि सुख दुःख भेद वास्तविक है अर्थात् भ्रम नहीं है, अब यदि सुख दुःख भेद तो है और जन्म तो एक ही है तो ईश्वर इस से अन्यायी ठहरता है और ईश्वर में अन्याय का आरोपण करना यह हमारे प्रथम सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसलिये जन्म अनेक हैं यही कहना योग्य है अर्थात् ईश्वर न्यायकारी है और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जीवों को वह दंड करता है अर्थात् जितना ही तीव्र पाप जीव करता है उतना ही उसे दुःख भोगना पड़ता है ऐसा सिद्ध होता है।

कोई२ ऐसा पूर्वपक्ष करें कि मनुष्य के पाप करने के कारण वह पशुजन्म को गया। ऐसा कुछ काल के लिए मान भी लें परंतु वह पशु होते "मैं ने पाप किया इसलिये यह पशुजन्म मुझे प्राप्त हुआ है, ऐसा

यदि उस मनुष्य को ज्ञान नहीं है तो ज्ञान विना दण्ड भोगना यह व्यवस्था किस प्रकार की है ?

इस का समाधान—इस जन्म में भी ऐसी ही व्यवस्था दीखती है, दुःख भोगते भी दुःख के कारण-का भान कभी भी नहीं रहता, अघोरी बन बहुत खालिया और फिर उस के कारण कोई रोग शरीर में जकड़ा तो उस समय जो दुःख होता है उस दुःख के कारण उस के असल सबब का स्मरण रहता हो ऐसा कभी भी देखने में नहीं आता, इसी तरह अन्यत्र बहुत सी व्यवस्था इस संसार में प्रतीत होगी। अर्थात् वैसी व्यवस्था मिल सकेगी।

अस्तु इस संसार में सुख दुःख के जो भेद दीखते हैं उन का कुछ ना कुछ कारण अवश्य होना चाहिए, कारण के विना ये कार्य नहीं हो सकेंगे, इन सुख दुःख के भेदों के कारण पूर्वजन्म के कर्म हैं इसलिए शेषवत् अनुमान से सुख दुःखादि भेदों की व्यवस्था ठीक २ लगजाती है, अब कर्मों को भी

कहा जाय तो वे भी विचित्र हैं, नाना प्रकार के आत्मा पर जो संस्कार होते हैं उन के कारण नाना प्रकार के मानसकर्म उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की ऐसी व्यवस्था है कि उन २ कर्मों के योग से पाप पुण्य उत्पन्न होने चाहिये। इस प्रकार पाप पुण्य का हिस्सा बिना भोगे छुटकारा नहीं होता, अर्थात् पापों को भोगना ही पड़ेगा वे कभी भी नहीं छूटते। अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर की भक्ति, प्रार्थना आदि करने से उसे दया आती है और फिर वह पाप का दंड नहीं देता सो इस पूर्वपक्ष का समाधान सरल है कि ईश्वर की भक्ति वा प्रार्थना से पूर्वकृत पापों का दंड नहीं चुकता किंतु यह तो सम्भव है कि आगे के होने वाले पापों से केवल निवृत्ति होती है, यदि ऐसा न होता तो पाप करने के लिये यत्किञ्चित् भी भीति किसी को भी न लगी रहती, अब इस सम्बन्ध से एक वार्ता और कहना चाहिये कि कोई२ ऐसी शंका करेंगे कि ईश्वर सर्वज्ञ है उसे हमारे

मन के सारे भाव विदित हो हैं अर्थात् जैसे पतिव्रता की भक्ति किस की है और वेश्याओं केसदृश भक्ति किस की है यह उसे विदित है, हम मनुष्यों को तो प्रसंगवशात् ही केवल लोगों के मनोभाव विदित होते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसे सदैव सब लोगों के मनोभाव। पापपुण्यवासना और परमेश्वरभक्तिभावना ये सब प्रत्यक्ष हैं, यदि पूर्वकृत पापों को अवश्य भोगना पड़े और ईश्वर की भक्ति करने से वह दया कर २ पापदंड से तो न छुड़ावे तो फिर मुक्ति किस प्रकार होगी ? ऐसी शङ्का है इसलिये—मुक्ति किस को कहते हैं इस का ही प्रथम विचार करें :—

मुक्ति अर्थात् ईश्वरप्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उस के परमानन्द में तल्लीन हो जाना यही मुक्ति का लक्षण है। इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर सदानंदस्थिति प्राप्त होती है, शोक से चित्त बिगड़ता है

यह तो ठीक ही है परन्तु हर्ष से भी चित्त बिगड़ जाता है इसे दिखलाने के लिये दृष्टांत देना चाहिये। किसी गरीब आदमी को लाख रुपया एकदम मिलने से उस हर्ष के कारण उसे पागलपना आ घेरता है, सबों को यह एक बात स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर को छोड़ चाहे कितने ही दूसरे कर्म किये जांय परंतु उन से आत्मा मुक्त नहीं होता, मुक्ति होने के लिये जो कुछ है वह एक ही ईश्वर-प्राप्ति का कारण है ॥

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करेगा कि जबकि हम सृष्टि को अनादि नहीं मानते तो अवश्य सृष्टि का कहीं ना कहीं प्रारम्भ होना ही चाहिये, और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ उस समय योनिभेद था। यदि ऐसा कहा जाय तो ईश्वर अन्यायी ठहरेगा क्योंकि कुछ आत्मा पशु आदिकों के नीच योनि में जांय और कुछेक मनुष्य की योनि में जांय यह कैसा ! इस पूर्वपक्ष का समाधान ऐसा है। कोई २

ऐसा कहते हैं कि पहिले परमेश्वर ने एक स्त्री पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया। फिर स्त्री ने सर्प के कहने से ज्ञानवल्ली का फल खाया तब स्त्री के अपराध के कारण स्त्री पुरुष पतित हुए इसलिये जगत् में पाप और पुण्य घुसा, तो ऐसी २ गपोड़ कहानियों को कह कर हम अपना समाधान नहीं करते किंतु सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई और इस विषय में आर्यलोगों के शास्त्रद्वारा सूक्ष्मरीति से क्या विचार किया गया है उसे देखें। जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है उसी स्थिति में प्रारंभ में सृष्टि नहीं थी इसीलिये वर्तमान सृष्टि को उत्तरसृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूं और पूर्व-सृष्टि को आदिसृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूं कि जिस से झट समझ में आ जाय।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः

पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ॥ इत्यादि
तै० उपनि० ॥

आदिसृष्टि में ईश्वर ने बहुत से मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किए "ततो मनुष्या अजायन्त" इत्यादि य० सं० में है। परंतु उन में अब जैसा ज्ञान के कारण और कृति के कारण भेद न था उन सबों को केवल आहार विहार और मैथुन इतना ही केवल विदित था और इन विषयों में भी सब प्राणी एक ही से और एकरस थे, सब शरीर सब जीवों के भोग के लिए हैं अर्थात् एक ही जीव के लिए नहीं हैं। ये सब जीव जंतु परमेश्वर से उत्पन्न हुए,

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। तथाक्षरात्सोम्येमाः प्रजाः प्रजायन्तेत्यादि०

छांदोग्योपनिषद्

जैसे छोटे २ बच्चों को अब भी यहां पर स्थिति

रहते हुए उसी तरह आगे मरने पर किसी प्रकार का दंड नहीं होता उसी तरह इस आदिसृष्टि में सब मनुष्य बाल्यावस्था में थे उन की अशिष्टाप्रतिषिद्ध चेष्टा थी अर्थात् उन्हें शासन वा प्रतिषेध नहीं लगाए थे। नेत्रों से अपना काम करें अर्थात् रूप को देखें श्रोत्रों से अपना काम करें अर्थात् शब्द सुनें पांव से अपना काम करें अर्थात् इधर उधर फिरें बस इस से और विशेष व्यापार आदिसृष्टि में नहीं था ऐसी व्यवस्था आदिसृष्टि में पांचवर्ष चलती रही फिर परमात्मा ने मनुष्यों को वेदज्ञान दिया,

ओ३म् स्वं ब्रह्मा।याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छा-

श्वतीभ्यः समाभ्यः । य० सं० ॥

अब वेदज्ञान से पाप पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा २ आचरणभेद होता गया। फिर प्रत्यक्ष ही है कि पाप पुण्य की व्यवस्था के अनुसार सहज ही में कार्य उत्पन्न होने लगे,मनुष्य पाप के कारण पशु-

जन्म को गए और पाप छूटने पर फिर भी मनुष्य-
जन्म में आए, आदिसृष्टि में पशुओं को एक दफे
मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ फिर तो आचारभेद के अनुकूल
पापपुण्यानुसार वे भी जन्मान्तर के चक्कर में आ
फसे, अब कोई २ ऐसी भी शङ्का करें कि मनुष्य को
पापवासना ही क्यों हुई ? तो उस का इतना ही
समाधान है कि परमात्मा ने मनुष्यों को स्वतंत्रता दी
है और उस स्वतंत्रता के जो २ परिणाम होवेंगे उन्हें
भी स्वीकार करने चाहिए सुख के सब सामान होने
पर भी यदि स्वतन्त्रता नहीं है तो वह स्थिति दुःख-
मिश्रित स्वतन्त्रता दे कर अतिदुःसह होती है तब
पापवासना होती है यह अपनी स्वतन्त्रता का वि-
कार है इसलिए ईश्वर पर दोष नहीं लगा सकते,
कोई २ ऐसा मानते हैं कि दुःख विशेष देश नर्क है
और सुखविशेष देश स्वर्ग है और इस उभय प्रदेश
में मनुष्य को पाप पुण्य के अनुकूल एक समय जगत्-
प्रलय के समय में न्याय कर २ अनन्त काल तक

सुख में वा दुःख में ईश्वर रक्खेगा ऐसा प्रतिपादन करने से ईश्वर अन्यायी ठहरेगा, ईश्वर के न्याय का ऐसा अटकाव नहीं है, प्रत्येक क्षण में ईश्वर के न्याय की व्यवस्था जारी है और अपने २ पापपुण्य के अनुसार हमें बुरा भला जन्म मिलता है।

पापपुण्य मनुष्यजन्म ही में केवल होते हैं पश्वादिकों के जन्म में भोग होता है, नये पाप सम्पादन नहीं होते, कोई २ शंका करेंगे कि मनुष्यजन्म एक ही समय मिलता है वा कैसे ? तो इस का उत्तर यह है कि मनुष्यजन्म बारंबार प्राप्त होता है। अब पहिले कह ही चुके हैं कि मृत्यु अर्थात् जीव का और शरीर का वियोग होना यह है तो वह कैसे आता है इस विषय में कोई २ कहते हैं कि गरुडपुराण में कहे अनुसार मनुष्य का प्राण हरण करने के लिए यमदूत आते हैं। इस यमदूत का मुख दरवाजे इतना बड़ा होता है और देह पर्वत के सदृश होते हैं यह वर्णन सर्वथैव अतिशयोक्ति का है। निरुक्त

में अन्तरिक्षकांड है उस में वायु के यमराज, धर्म-
राज ये नाम दिए हैं :—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैवहृदि स्थितः ॥

इस से जीव यम की ओर जाता है अर्थात् वायु
में वायु अन्य योनि के बीच उस का प्रवेश होता है
ऐसा समझना चाहिए :—

मरने पर जीव वायु में मिलता है। अस्तु। ऐसे २
हमारे उपदेश से कट्टहा लोगों की हानि होगी विद्वा-
नों की क्या हानि हो सक्ती है ? अर्थात् विद्वानों
की कुछ भी हानि नहीं है। हां ! अवश्य धूर्तों की
हानि हो तो हो हमारा निरुपाय है।

कोई २ ऐसा भी कहते हैं कि जीव ले परन्तु
जीविका न ले। हमारे भाषण से वा लेखसे गरुडपु-
राणादिक ग्रन्थों के विषय में लोगों की अश्रद्धा होने
से फिर स्वयं ही कट्टहाओं की जीविका डूबेगी उस
से हमें पाप लगेगा, सो भाई हमें इस का भय नहीं है

क्योंकि राजा दुष्ट लोगों को दण्ड करता है उसी तरह हमारे वचनों से दुष्टों की जीविका डूबेगी तो उस में हमें पाप किस बात का लगेगा ? ब्राह्मणों को अर्थात् विद्वान् आर्यों को अध्यापन याजन करने का अधिकार है, उन्हें मतलबसिन्धु साधने के लिए कट्टहापन का धन्दा करना वा जन्मपत्रिका बनाना या आप ही शनि बन लोगों को लगना और दुष्ट उपायों से उपजीविका करना अत्यन्त अनुचित है क्योंकि ये सब पाप आज कल के उन ब्राह्मणों के सिर मढ़ते हैं। ज़रा विचार तो करो कि कहीं भी सारे महाभारत भर में जन्मपत्रिका का वर्णन आया है? कहीं भी नहीं, इस से सिद्ध हुआ कि फलज्योतिष् की जड़ कहीं भी आर्यविद्या में नहीं है यह स्पष्ट है। मृत्यु समय में यमदूत जीव को ले जाता है इस से यह आशय समझो कि वायु जीव का हरण कर-ता है। अस्तु। वायु मनुष्य को हरता है और फिर आगे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर-

नियम की व्यवस्था से यह सब सहज ही में बन आता है इस में कहां तो वैतरणी नदी और गोपुच्छादि पाखण्ड मत को अवकाश हो सक्ता है ? अर्थात् इन सारे प्रलापों का आधार वेदादि सत् शास्त्रों में कहीं भी नहीं,

चौरासी लाख योनियां हैं अथवा न्यूनाधिक हैं तो इस गपोड़ कथाओं का वर्णन करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जगत् में कितनी योनियां हैं इस का शोध लगा। गिनकर हमारे शास्त्री लोग बतावें।

विद्वांसो हि देवाः शतं ये मनुष्याणामानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यादि०

तै० उपनिषद्०

जिन के पापपुण्य सम होते हैं वे मनुष्यजन्म पाते हैं, मानसिक स्थिति सात्विक जिन की रहती है वे देवता० पापातिशय के कारण तिर्यग् योनि

प्राप्त होती है परंतु पाप का अपचा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो इनहे भोग कर जब ही पाप पुण्य सम हुआ कि मानों मनुष्यजन्म प्राप्त होता ही है, इस प्रकार पाप पुण्य पर सारी व्यवस्था ईश्वर ने नियत कर रक्खी है और यही व्यवस्था यथार्थ है।

अब कोई ऐसी शङ्का निकालें कि पूर्वकृत पापों का दंड जीव को विना भोगे छुटकारा नहीं मिल सक्ता यह हमारा मत है तो फिर पश्चात्ताप से कुछ भी लाभ नहीं है कि क्या ? उस का उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता परंतु आगे पाप करना वन्द हो सक्ता है।

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥
मनु० अ० ११ श्लो० २३० ॥

चाहे कितना भी पश्चात्ताप किया जावे तो भी

कृतपापों को तो भोगना ही चाहिए, इसका दृष्टान्त— जैसे कोई कूए में गिरा और उस के हाथ पांव टूट गए तो अब वह चाहे कितना ही पश्चात्ताप करे तो भी उस के हाथ पांव जो टूटे सो तो टूट ही चुके वह तो कुछ भी किए नहीं छूट सक्ता। हां आगे के लिए कुए में न गिरेगा इतना ही केवल होगा।

अब पाप का फल शोक है और पुण्य का फल हर्ष है तो अब पुण्य भोगने के लिए देश। काल। वस्तु ये स धन भी अवश्य चाहिए, इन निमित्तों के बिना भोग कैसे होगा? जब कि भोग न भोगा जा-वेगा तो फिर आनन्द भी कैसे प्राप्त होगा? अब इस पर कोई ऐसा कहेगा कि मुक्त समय में शरीर न होने पर मुक्त जीव को सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान हो कर वह परमेश्वर को ही जा कर लटकता है फिर एक परमेश्वर ही उस का आधार रहा और फिर ऐसे परमानन्द समय में शरीर का प्रयोजन नहीं है? तो जानना चाहिए कि शरीर अर्थात् भोगायतन

वह इस जगत् में पाप पुण्य भोगने का साधन है। इस का सम्बन्ध मूलावस्था में नहीं है।

अब पुनरपि, मुक्त जीव का ज्ञान कैसा है इस का विचार करें :—

कोई ऐसी शङ्का करेगा कि इस जन्म में पूर्व-जन्म का विस्मरण होता है तो सर्वदैव जीव को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं होगा। जिस ज्ञान का निमित्त छूटता है तो उस ज्ञान की भी भूल होती है,

"युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्"
गौतमसूत्र

ये सब आपत्तियां अमुक्त आत्माको लगती हैं परंतु धनञ्जय वायु का जिसे ज्ञान हुआ है और जिस का आत्मा उसमें संचार कर सकता है और जिसके आत्मा से पूर्वजन्मसंस्कार निकल चुके हैं वह और जिस के आत्मा में शांति उत्पन्न हुई है, जिस के आत्मा को अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, ज्ञानोन्नति को

पहिचान हो चुकी है और जिस की दृष्टि की और मनोवृत्ति को ज्ञानसुख के बिना अन्य सुख विदित नहीं है ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है, ऐसे मुक्त पुरुषों को देश काल वस्तु परिच्छेद ज्ञान होता है उन्हें युगपत् ज्ञान की अटक नहीं है इस का दृष्टान्त—जैसे एक कण शक्कर का यदि चीटी को मिले तो वह उसे ले जाया चाहती है परंतु उसे वही एक शक्कर का गोला मिल जाय तो उसी शक्कर के गोले को वहीं पर चीटी लिपट जाती है इसी तरह योगियों की आत्मा की स्थिति परमानन्द प्राप्त होने पर होती है ॥

ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः ॥

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हुईं पुस्तकों की सूची

राधास्वामीमतखंडन	मू०	=)॥
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान		
ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तरसहित	(१) मू०	)।
व धर्माऽधर्मविषयक	(२-३) ,,	)॥
व वेदविषयक	(४) ,,	)॥
व जन्मविषयक	(५) ,,	)॥
पुराणों की शिक्षा	,,	डेढ़पाई
मृतकश्राद्धविषयक प्रश्न	,,	डेढ़पाई
लिङ्गपूजाविधान उर्दू	,,	)।
फर्यादपोप ,,	,,	/)
सङ्गीतसङ्ग्रह भाषा	,,	)॥।
बूंदीशास्त्रार्थ	,,	=)
मसलेनियोग—टी. विलियम साहब के जवाब में	,,	/)

इकट्ठी लेनेवालों के लिये विशेष नियम :—

मिलने का पता—
पुस्तकाध्यक्ष आर्य्यसमाज
अजमेर

ओ३म्

श्री १०८ श्रीदयानन्द [illegible] सरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान

(६)

यज्ञ, संस्कारविषयक

जिसको

पं० गणेशरामचन्द्रशर्म्मा उपदेशक मारवाड़ ने

महाराष्ट्रीय से

नागरीभाषा में उल्था किया

और

बा० रामबिलास सारदा मन्त्री ने

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा राजस्थान की

ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९५० फाल्गुन

ओ३म्

ता० २० जौलाई सन् १८७५ ई०

श्री१०८स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी का व्याख्यान-६

यज्ञ, संस्कार, विषयक

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष९ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व९ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १ ॥ य० सं०

यह ऋचा कह कर व्याख्यान का आरम्भ किया। यज्ञ और संस्कार क्या है इस का विचार आज कर्त्तव्य है ॥

प्रथम यज्ञ का विचार करें—यज्ञ का अर्थ क्या है ? यज्ञ के साधन कौन २ से हैं ? उस की कृति कैसी है ? और उन के फल कौन २ से हैं ? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इन के उत्तर अब हम यथाक्रम देते हैं, यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं—प्रथम देवपूजा, दूसरा संगतिकरण और तीसरा अर्थ दान है।

अब प्रथम देवपूजा के विषय में विचार करें, केवल देवपद का मूल अर्थ—द्योतक अर्थात् प्रकाशस्वरूप है; और वेदमन्त्रों को भी देवसंज्ञा है, क्योंकि उन के कारण विद्याओं का द्योतन अर्थात् प्रकाश होता है, यज्ञ कर्मकाण्ड का विषय है, यज्ञ में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्य्यन्त का समावेश होता है, देव शब्द का अर्थ परमात्मा भी है, क्योंकि उस ने वेद का अर्थात् ज्ञान का और सूर्यादि जड़ों का प्रकाश किया है, देव अर्थात् विद्वान् ऐसा भी अर्थ होता है, क्योंकि शतपथब्राह्मण-नामक ग्रंथ में "विद्वाꣳसो हि देवाः" ऐसा वर्णन किया है, पूजा शब्द का अर्थ सत्कार है।

"पितृभिर्भ्रा० पूजितोऽतिथि०॥पूजितो गुरुः॥ इत्यादि ॥

अब देव की पूजा कहने से परमात्मा का सत्कार करना—यह अर्थ होता है, चेतन पदार्थों ही का केवल सत्कार सम्भवित है, जड़ पदार्थों का अर्थात् मूर्त्तियों का सत्कार नहीं सम्भव होता, मुख्यत्व से वेदमन्त्र के पठन से ईश्वर का सत्कार होता है इसलिए प्राचीन आर्य लोगों ने होम के स्थल में मन्त्रों की योजना की है, इसी तरह यज्ञशाला को देवायतन अथवा देवालय कहा है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ म.भा

इसीलिये ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन भी पांच महायज्ञों में से एक यज्ञ है।

"स्वाध्यायेनार्च्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि" मनुः॥

इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है,

अब दूसरा अर्थ—संगतिकरण—अर्थात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक, प्रेमपूर्वक देवता का ध्यान, देवता का विचार, तथा सत्पुरुषों का संग करना इसे भी यज्ञ ही कहते हैं।

अब तीसरा अर्थ दान है—विद्यादान को छोड़ दूसरे दान, दान नहीं हैं, केवल विद्या का दान ही दान है, अन्न वस्त्रादिकों के दान विद्यादान की सहायता करते हैं इसलिए उन्हें भी दान कहना उचित है, विद्यादान अक्षय दान है।

अब यज्ञ से क्या २ फल होते हैं इस का विचार करें, यज्ञ का रूढ्यर्थ वेदों में काष्ठ घृतादिकों का दहन करना है, तो इस में ऐसी शङ्का उत्पन्न होती है कि व्यर्थ ही काष्ठादि तथा घृतादि द्रव्यों को अग्नि में क्यों जलावें, इस का समाधान यह है कि—

शतपथब्राह्मण में कहा है—

"जनतायै यज्ञो भवतीति" शतपथब्राह्मण ॥

पुष्टि, वर्धन, सुगंधप्रसार और नैरोग्य ये चार उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं, ये

लाभ उपदिष्ट रीति से होम होने पर ही होते हैं। कहा है कि—

"संस्कृतं हविः। होतव्यमिति शेषः।
शतपथब्राह्मण ॥

योग्यरीति से यथाविधि होम करना चाहिए। एकदम मनभर घी जला दिया वा चम्मच चम्मच कर के मनभर घृत को बरस भर जलाते रहे तो भी होम नहीं होगा—फिर कोई २ कहते हैं कि होम अर्थात् देवतोद्देशक त्याग है। देवता लोग यजनदेश में आकर सुगन्धि लेते हैं इसलिए होम करना चाहिए तो यह कहना अप्रशस्त है।

क्या देवलोक में कुछ सुगन्धि की न्यूनता है जो वे हमारे क्षुद्र हविर्द्रव्य की अपेक्षा करते हैं?

इसी तरह कोई २ कहते हैं कि श्राद्धादिकों में पितृलोग आते हैं और यदि उन्हें श्राद्धान्न और तर्पण का जल न मिले तो वे तृषार्त्त रहते हैं, तो क्या वे प्यासे रह कर भूखों मरेंगे? और क्या पितृलोक में सब दरिद्रता ही दरिद्रता है? सारांश यह कि-

सब समझ और विचार ठीक नहीं है क्योंकि देवलोक में वा पितृलोक में कुछ न्यूनता नहीं है, होम-हवन उन के उद्देश्य से कर्त्तव्य नहीं है किन्तु सुवृष्टि और वायुशुद्धि होम हवनादि से होती है इसलिए होम करना चाहिए, क्योंकि सब प्रकार के नैरोग्य और बुद्धिवैशद्य का वायु और जल का ही आधार है। इसमें दृष्टान्त सुनो कि-इन दिनों पंढरपुर में (हिन्दू लोगों का एक यात्रा का स्थान है) बड़ा हैज़ा (विशूचिका) जारी है तो वहां का जल वायु ही बिगड़ने से इस बात का कारण हुआ। हरिद्वार में एक समय मेला हुआ था वहां पर वायु बिगड़ने से हज़ारों मनुष्य कालवश हुए अर्थात् मर गए, ब्रह्माण्ड में सञ्चार करनेवाला जो वायु है वही जीव का हेतु है, अन्तर्वायुद्वारा ठीक २ व्यापार होवें इसलिए बाहर का ब्रह्माण्डवायु शुद्ध रहना चाहिए। ब्रह्माण्ड-वायु शुद्ध करने के लिये यज्ञकुण्ड में घृत, कस्तूरी। केशरादि सुगन्धित। पुष्टिकारक द्रव्यों का हवन करना चाहिए, सुगन्धित द्रव्यों के दहन से ब्रह्माण्ड-

वायु की दुर्गन्धि का नाश होता है, इस हवन के कारण जो सुगन्धि उत्पन्न होती है उस सुगंधि के सन्मुख वायु के सब दुष्ट दोष दूर हो कर नैरोग्य उत्पन्न होता है, अब कोई अर्वाचीन लोग ऐसी शङ्का करें कि पदार्थों का दहन होने से उन का पृथक्करण हो कर उन के गुण नष्ट हो जाते हैं तब फिर हवन से नैरोग्य कैसे उत्पन्न होगा ? इस वि .य में हमारा प्रथम उत्तर यह है कि सब द्रव्यों में स्वाभाविक और संयोगजन्य दो प्रकार के गुण हैं। उन में स्वाभाविक गुणों का नाश कभी नहीं होता। संयोगजन्य गुणों के वियोग से ह्रास (घटती) होता है यदि स्वाभाविक गुण पदार्थों मे न मानें जांय तो समुदाय में गुण कहां से आवेगा ?

दृष्टान्त—एक तिल्ली के दाने से थोड़ा ही तेल निकलता है इसलिये समुदायस्थित बहुत से तिलों का तेल बहुत निकलता है। एक जलपरमाणु में शीतता है इसलिए परमाणुसमुदायरूप जल का शीतता स्वाभाविक धर्म है। सुगन्धित पदार्थों का

सुगंधि स्वाभाविक गुण है वह दहन से फैलता है, उस का नाश नहीं होता।

द्वितीय—सुगंधि जलाने से दुर्गन्धि का नाश होता है यह प्रत्यक्ष है।

तृतीय—जब हम अर्क निकालते हैं तब जैसा द्रव्य होता है वैसा ही तद्गुणविशिष्ट अर्क निकलता है अब अर्क अर्थात् अस्वादि अतरआदि द्रव्य हैं।

अग्नि परमाणु में जो गुण हैं वे अग्नि के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हो कर मेघमण्डल तक विस्तीर्ण होते हैं और उस से वायुशुद्धि परिणाम होता है।

अब कोई ऐसी शङ्का करे कि होम एक छोटी सी कृति है इस से ब्रह्माण्डवायु कैसे शुद्ध होगा, समुद्र में एक चम्मच भर कस्तूरी डालने से क्या सारा समुद्र सुगंधित और शुद्ध होगा?

इस का समाधान यह है कि सौ घड़े रायते में थोड़ी सी ही बघार से रुचि आ जाती है यह प्रत्यक्ष है, इस की जैसी उपपत्ति समझीजाती है तद्वत्ही यह प्रकार भी है, कोई ऐसी शङ्का करे कि होम

तो यहां करो और अमेरिका में उस का परिणाम कैसे होगा ?

इस का समाधान यह है कि वायुद्वारा शुद्धि सर्वत्र फैले--यह वायु का धर्म है, सिवाय--यदि सब लोग अपने २ घर में आर्यसम्मत रीति से हवन करें तो यह शङ्का ही नहीं सम्भव होती। पहले आर्यलोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रातःकाल स्नान कर बारह आहुति देता था क्योंकि प्रातःकाल में जो मलमूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती थी वह इस प्रातःकाल के हवन से दूर होती थी इसीतरह सायंकाल में हवन करने से दिनभर की जमी हुई जो दुर्गन्धि-उस का नाश होकर रातभर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी। प्राचीन आर्यलोग बड़े ही युक्तिमान् थे इस में किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। फिर अमावास्या और पौर्णमासी के दिन समस्त भरतखण्ड में होम होता था उस से भरतखण्ड में वायुशुद्धि के कितने साधन उत्पन्न होते थे इसका विचार करने से यह छोटा ही सा प्रकार है ऐसा

किसी को भी प्रतीत न होगा, अब वायु शुद्ध रहने से वृष्टि का जल भी शुद्ध रहता है, वृष्टि से और वायु से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और सब देश का जल वृष्टि से उत्पन्न होता है,

जल स्वच्छ और वायु के भी स्वच्छ रहने से वृक्षों के फल, पुष्प, रस ये बड़े ही शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं, उसी तरह अन्नादि सब द्रव्य शुद्ध और पुष्टि-कारक होते हैं इसीलिए शरीर को सुख होकर अन्न से बल उत्पन्न होता है, प्राचीन आर्यलोगों के शौर्य का वर्णन इस प्रसङ्ग में करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वायु और जल की दुर्गन्धि नष्ट होकर उन में शुद्धि और पुष्टिवर्धनादि गुण बढ़ने से सब चराचरों को सुख होता है, इसीलिए कहा है कि—

स्वर्गकामो यजेत । सुखकाम इति शेषः ।

ऐतरेय० शतपथब्राह्मण,

होम—हवन से परमेश्वर की सेवा कैसे होती है ऐसा यदि कोई कहे तो उसे विचार करना चाहिए कि—सेवा का अर्थ प्रिय आचरण है, परमेश्वर को

सेवा अर्थात् उस को जो प्रिय वह आचरण करने से वह न्यायकारी होने के कारण उस के द्वारा योग्य प्रत्युपकार होता है ऐसा एक नियम ही है। अब स्वर्ग अर्थात् सुखविशेष अथवा विद्या। और नरक अर्थात् दुःखविशेष अथवा अविद्या है, विद्या स्वर्गप्राप्ति का तथा बुद्धिवर्धन का कारण है। बुद्धिवर्धन को शारीरिक दृढ़ता अवश्य चाहिए। और शुद्धवायु। शुद्धजल। और शुद्धान्न के विना शरीरदृढ़ता कैसे प्राप्त होगी? होम—हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है, विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्गप्राप्ति, सुखप्राप्ति होती है।

कोई २ ऐसी भी शङ्का करें कि वायुशुद्ध्यर्थ यदि हवन है तो उस में वेदमन्त्रों के पठन की क्या आवश्यकता है और होम करने में अमुकही रीति की ईंटें रहकर अमुकही प्रकार की वेदी बनावे ऐसी विशेष योजना किस वास्ते चाहिए?

इस शङ्का का समाधान यह है कि विशेष योजना

के अनुकूल कोई भी बात किए बिना उस से विशेष कार्य नियमित समय पर प्राप्त नहीं होता। इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल गहरी और सोलह अंगुल ऊंची गणितप्रमाण से वेदी बनाकर उस में नियमित प्रमाण का ही मसाला लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन करने से। अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है, और उष्णता के कारण वायु शुद्ध होकर जलपरमाणु वायु में उड़जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत् उत्पन्न होती है, और मेघमण्डल में गड़गड़ाहट की आवाज़ उत्पन्न होती है। इसप्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

अब गड़गड़ाहट अर्थात् इन्द्रवज्र संघातजन्य शब्द वर्णन किया हुआ है। इसका सच्चा अर्थ यह है कि, इन्द्र अर्थात् सूर्य्य और सूर्य की उष्णता के कारण विद्युत् और मेघगर्जनादि कार्य होते हैं,

कोई २ कहते हैं कि इन्द्र अपने वज्र से बलि

को मारता है सो वह बात बिल्कुल झूठ है। बलि-राजा पाताल में राज्य करता है, और पाताल अमेरिका देश है, सो अब उस अमेरिका में बलि राजा कहां पर है? इसी तरह वेदी की एकाद ईंट यदि टेढ़ी बैठी कि मानो यजमान मरता है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त और निर्मूल है। यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलबसिन्धु की है। वे कहते हैं कि हम जो कहें उसे बछिया के बाबा की नाईं सुनो। शङ्का मत करो। शङ्का करते ही तुम नास्तिक बन जाओगे इत्यादि धर्मकियां धूर्तलोग देते रहते हैं।

अब—होम समय में वेदपठन किसलिए है यह पूंछा था सो इसका उत्तर यह है कि दो काम यदि एक ही समय में होसक्ते हों तो उन्हें करना चाहिए ऐसा उद्देश कर २ प्राचीन आर्य लोगों ने हाथों को होमादिक द्रव्यों की व्यवस्था करने में लगाए तब मुंह खाली न रहे। परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना मुंह से होती रहे इसलिए पहिले के ऋषिलोग वेदमन्त्र कहते थे, और ब्राह्मणलोगों ने कण्ठस्थ वेद आज-

तर्क किया इसीलिए वेदविद्या भी अबलों बनी रही है। फिर यहभी था कि वेदपाठ करनेसे परमेश्वर की भक्ति होती थी जिस से विचारशक्ति भी उत्पन्न होती थी। "त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे" ऋ०सं०

दूसरा ऐसा भी विचार है कि जो हाथों से प्रयोग होता है उसके जो मन्त्र उस समय कहे जाते हैं उन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता इस से मन्त्रोच्चार कर्म के उद्देश से नहीं होता किन्तु परमेश्वर की स्तुति मुंह से होती रहे यही प्रधान उद्देश है और कोई २ मन्त्र ऐसे भी हैं जिन में होम के लाभ कहे गए हैं सारांश यह कि वेदमन्त्रों को कहने मे वेद की रचाही मुख्य प्रयोजन है।

इसप्रकार कर्मकाण्ड बिल्कुल निष्फल नहीं है अस्तु,

कोई २ ऐसी शङ्का करेंगे कि वेदों में वीभत्स कथाएं क्यों हैं?

उत्तर—वेदों में तो बीभत्स कथाएं कहीं भी नहीं हैं। ऐसी २ कथाएं अर्वाचीन महीधरादि भाष्यकार दिखलाते हैं, सो यह दोष वेद पर नहीं

लगसक्ता। यह केवल भाष्यकार की बीभत्सबुद्धि का दोष है, दृष्टान्त—जैसे किसी सुवासिनी स्त्री ने किसी विधवा को नमन किया तो विधवा क्या कहती है अर्थात् आशीर्वाद देती है कि "आओ बहिना मुझसी हो" बस इसीप्रकार मतलबी लोगों ने मनमाना अर्थ वेदों में निकाला है——शतपथब्राह्मण को देखो ।

श्रीर्वै राज्यस्याग्रमित्यादि॰ (शत॰ ब्राह्मण)

अब कोई ऐसा कहे कि। अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार यजमान की स्त्री के सम्बन्ध से कहा है। इस से ऐसा प्रकार वेदों में बिलकुल ही उपदिष्ट नहीं है। सो ठीक है परंतु इस के सम्बन्ध से जो२ बीभत्सकथाएं लिखी हैं उन्हें पढ़ते हुए मानो उलटी आती है।तथापि ऐसा बीभत्सपना कभी भी प्रचारमें न आया हो यह कहते नहीं बनता क्योंकि पद्धतिनिरूपक ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट २ मिलती है ।

पच्चीससै वर्ष के पूर्व बौद्ध लोगों ने जो २ ग्रन्थ बनाए उन में ऐसी २ बातों का उद्देश कर २ ब्राह्मणों की निन्दा की है ।

अब कोई ऐसी शङ्का करें कि अस्तु जो हो परन्तु बीभत्सकथाएं तो भी उन में हैं वा नहीं ?

अश्व को फेरते थे, और सार्वभौम राजा लोग इस से क्या शत्रुता उत्पन्न करते थे ?

इस में हमारा समाधान यह है कि शतपथ में लिखा है कि—

अग्निर्वा अश्वः । आज्यं मेधः ॥ शतपथब्राह्मण

अश्वमेध अर्थात् अग्नि में घी डालना—इतना ही अर्थ है, उसी तरह ग्रन्थसाहचर्य की ओर ध्यान देने से हरिश्चन्द्र, शुनशेफ इत्यादि बातों का निर्वाह होता है ।

अब केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्ता है, यक्ष ने अग्नि के सन्मुख तृण डाला, और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे, अग्नि से वह तिनका न जल सका, फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा लेजा, वायु से भी वह तिनका न उड़सका, ऐसा कहकर जो हैमवति नामक ब्रह्मविद्या है उस का माहात्म्य दर्शाया है, यज्ञ में मांस आदि खाना

यह गपोड़ा अर्वाचीन पण्डितों ने निकाला है।

कोई२ व्यभिचार के विषय में भी ऐसी ही कोटियां निकालते हैं, कहते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि अप्सराएं नहीं हैं? हम नगद रुपिया दे बाजार में कोई माल मोल लेवें तो इस में दोष क्या है? तो भाई सोचो कि ये बातें कहना क्या तुम्हें प्रशस्त दीखती हैं? कभी नहीं।

अस्तु, पुरुषमेध का अब थोड़ा सा विचार करें, यजुर्वेद के इस मन्त्र को देखो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥ य० सं०

होम तो देवताओं का हो और मांस पशुओं का तथा मनुष्यों का रक्खें तो कहो यह व्यवस्था कैसे ठीक २ है? ऐसी व्यवस्था परमेश्वर बनावेगा यह हमें तो निश्चय नहीं होता, अर्थात् ऐसी व्यवस्था को अन्याय के सिवाय क्या कहसक्ते हैं,

परमेश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं है, और ऐसी निष्कारण हानि का वर्ताव भी नहीं है,

देखो गौ सदृश परोपकारी गरीब पशु को खाने के लिए वा यज्ञ के लिए मारने से कितनी हानि होती है—एक गाय चार सेर दूध देती है, इस दूध को औंटकर खीर (क्षीर) पकाने से न्यून से न्यून निदान चार मनुष्यों के लिए तो भी पौष्टिक अन्न होता है। अर्थात् प्रातःकाल सायङ्काल दोनों समय का दूध मिलाकर आठ मनुष्यों का पोषण होता है, यदि उस गाय ने दस महीने दूध दिया तो समझो कि चौबीस सौ २४०० मनुष्यों का पालन उस-गाय के एक बेत में होगा। इसप्रकार आठ औलाद औसत पकड़े तो १९२०० उन्नीस हज़ार दोसौ लोगोंका पालन होगा, वही गाय कोई यदि मार कर खाजाय तो पचीस तीस मनुष्यों का पालन एक टंक का होता है इसप्रकार युक्ति की रीति से भी मांसभक्षण ठीक नहीं है॥

अस्तु, इन दिनों मांसाहारियों ने राज्यबल के आधार से इतना जबर हाथ फेरना प्रारम्भ किया है कि, चौपाए बिलकुल न्यून होते जाते हैं, पांच रुपये के बैल के आजकल पचीस रुपये लगने लगे

हैं, और गरीब लोगों को दुग्ध घृत मिलने में बड़ी ही कठिनाई होती जाती है, जिस देश में बिलकुल मांस नहीं खाते उस देश में दूध घी की खूब ही बहुतायत होरही है अर्थात् वहां पर खूब समृद्धि रहती है।

अस्तु, अब लों तो पशुवध होम में न करने के लिए युक्तियों का तथा शास्त्र का विचार किया, अब इस शङ्का का विचार करें कि अथवा कभी होम में पशु को मारते थे वा नहीं ?

होम दो प्रकार के हैं, एक राजधर्मसम्बन्धी और दूसरा सामाजिक, इतने समय तक सामाजिक होम का निरूपण किया, अब राजधर्मसम्बन्धी जो होम है उस की सब ही व्यवस्था भिन्न है। उस में पशु मारने की तो क्या ही बात है परन्तु कभी २ मनुष्यों को भी मारना पड़ता है, युद्धप्रसङ्ग में हज़ारों मनुष्यों का प्राण लेना यह राजधर्म विहित है। भयङ्कर श्वापदादि जो खेती को उजाड़ते हैं वा मनुष्यादि को हानि पहुंचाते हैं उन को मारना ठीक ही है क्योंकि जंगली पशुओं का विध्वंस करना अत्यावश्यक है, परन्तु सब ही होमों

में मांसाहार लाना यह सर्वथैव अयोग्य है। किसी प्राणी को पीड़ा देना—कहो यह धर्म विहित कैसे होगा, और इतने पर भी बेचारों का मुंह बांधकर घूंसे मार २ कर उनका जीव लेना तो ईश्वरप्रणीत व्यवहार कभी भी न होगा।

अब यज्ञ के विषय में किसका अधिकार है ऐसी कोई शङ्का करे तो जानना चाहिए कि कर्मकाण्ड में जिन की प्रवृत्ति है उन्हीं को केवल अधिकार है। कर्म से विचारशक्ति थोड़ी २ जागृत होती है। उपासना से विचार में निर्मलता उत्पन्न होती है। फिर ज्ञान में विचार। दृढ़ता। और पक्कता आकर फिर वह ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है।

अब हम होम के विषय में छोटी २ शङ्काओं का विचार करते हैं।

कोई २ कहते हैं कि जब राजनियम से इन दिनों ग्राम स्वच्छ रहता है तो फिर होम किसलिये करें? उनके प्रति हमारा यह उत्तर है कि हमारे घर स्वच्छ बनाए बिना ग्राम कैसे स्वच्छ रहेगा? और ग्राम के बाहर

की दुर्गन्धि कैसे दूर होगी ? दूसरी शङ्का यह करते हैं कि जब आगगाड़ी में (रेल के इञ्जन में) और रसोईं के घरमें तो धुआं (धूम्र) बहुत उत्पन्न होता है फिर वृष्टि भी बहुत होनाही चाहिए। तो फिर होम किस वास्ते करना चाहिए ?

इसपर हमारा यह कहना है कि यह धूम्र दुर्गंध और दूषित रहता है इस से वायु शुद्ध नहीं होता।

इन दिनों होम के न्यून होने से वारम्वार वायु बिगड़ रही है।सदा विलक्षण रोग उत्पन्न होतेजातेहैं।

अबतक यज्ञ का विचार हुआ अब थोड़ा सा संस्कारों का भी विचार करें।

२ भाग—संस्कार

संस्कार कहते किसे हैं ? इस प्रश्न का प्रथम विचार करना चाहिए।

किसी द्रव्य को उत्तम स्थिति में लाना इस का नाम संस्कार है, इसप्रकार का स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों पर होवे एतदर्थ आर्यलोगों ने सोलह संस्कारों की योजना कीहै। परन्तु उन प्राचीन आर्यों की इस

से यह इच्छा न थी कि संस्कारों के कारण पेटार्थू पत्रापांडे हमारा माल उड़ावें और आलसी बनें क्योंकि वे आचार्य आर्य महाजन थे.तो फिर वे-अनार्य अर्थात् अनाड़ियों को समझ में क्योंकर मदत देते।

निषेक अर्थात् ऋतुप्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्येन स विप्रो गुरुरुच्यते॥१॥मनुः

ऐसा मनु में वाक्य है। पिताही को सब उपदेश और संस्कार करने चाहिए,पुत्रेष्टि का वर्णन छान्दोग्यउपनिषद् में किया है उस स्थल पर गर्भधारण करनेवाली स्त्रियों को क्या २ पदार्थ खाने चाहिये जिस से पुत्र के शरीर और बुद्धि में दृढ़ता आती है यह मुख्यकर विचार किया है, प्राचीनकाल के आर्यलोग केवल अमोघवीर्य थे, और स्त्रियों में भी पूर्णवय होने के कारण वीर्याकर्षता रहती थी, पुत्रेष्टि—यह गृहस्थाश्रम का प्रथम धर्म है।

२ पुंसवन—इस संस्कार का प्रयोजन वीर्य को पुनः

शरीर में किसप्रकार जमावे इस योजना के सम्बन्ध से है, वीर्य में सदा स्थिरता, दृढ़ता और नैरोग्य गुण रहने चाहिए। अन्यथा विकृत वीर्य से संतति में नानाप्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। एतदर्थ सूत्रकारों ने ओषधियां बतलाई हैं, वीर्यवृद्ध्यर्थ और शान्त्यर्थ वर्षभर (सालभर तक) पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिए ऐसा भी निर्बंध कहा हुआ है।

३ सीमन्तोन्नयन—स्त्रियों को अकाल में गर्भपात होने की बड़ी भीति रहती है सो वह न हो। और निरोगी पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मनके उत्साह रहने से, गर्भ की स्थिति उत्तम रहे एतदर्थ इस संस्कार की योजना है।

४ जातकर्म—इस संस्कार के विषय में विशेष होम करना कहा है, कारण कि सूतिकागृह का (जच्चा के घर का) अमंगलपना दूर करने के लिए सुगन्धिवर्धक होमकरना योग्य है। बच्चे को नाभि काटने से दुःख न हो, जच्चा सुखी रहे, इसप्रकार इस संस्कार का उद्देश है।

५ नामकरण—नाम रखने में भी कोई भूल न करे यहां तक प्राचीन आर्यलोगों की बारीक दृष्टि थी। नाम का सुख से उच्चारण हो। उस में मधुरता रहे। इसलिए दो अक्षरवाला वा चार अक्षरवाला नाम होवे ऐसा कहा है। यूंही व्यर्थ लम्बा चौड़ा नाम न होवे, नहीं तो कभी २ इन दिनों लोग मथुरादास, गोपवृन्द। सेवकदास ऐसे लम्बे चौड़े नाम रखकर गड़बड़ मचाते हैं। कभी२ कौड़ीमल। वा भिकारीमल। घोड्या पथ्या आदि विलक्षण नाम रखते हैं, इन-दिनों सब प्रकार पागलपना फैलरहा है फिर नाम रखने में दोष हो तो आश्चर्य क्या है ? दोष देने में कुछ भी उपयोग नहीं। स्त्रियों के नामों में भी मधुरपना होना चाहिए जैसे भामा, अनसूया, सीता, लोपामुद्रा। यशोदा, सुखदा ऐसे २ प्राचीन आर्यलोगों की स्त्रियों के नाम होते थे।

६ निष्क्रमण—कोमल शरीर के बच्चों को बाहर हवा खाने के लिए ले जाना यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश है।

७ **अन्नप्राशन**—योग्य समय में बच्चे को अन्नप्राशनादि यदि प्रारम्भ न करें तो बड़ा ही दुःख होता है। इसलिए इस संस्कार की योजना है।

८ **चूडाकर्म**—मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के कारण मैल जमता है वह दूर होवे इसलिए इस संस्कार की योजना की है।

९ **व्रतबंध**—(यज्ञोपवीत) पुरुषों को विद्यारंभ के समय उत्साह हो इस उद्देश से व्रतबंध विषय में विशेष नियम ठहराए हैं अर्थात् बनाए हैं। स्त्रियों को भी विद्यासम्पादन का अधिकार पहिले था, और उस के अनुकूल उन का भी व्रतबंध संस्कार पूर्व मे करते थे। विद्वान् अर्थात् ब्राह्मणलोग। आर्यकुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कार्पास का अर्थात् रुई का यज्ञोपवीत विशेष चिन्ह जान धारण करने को देते थे, इस के धारण करने में बड़ी ही जवाबदारी रहती थी। क्षत्रिय वैश्यादिकों के बालकों को भी कार्पास का तो नहीं किन्तु दूसरे पदार्थों का यज्ञोपवीत धारण करने के लिए देते थे। यदि ठीक २ विद्या सम्पादन

न हुई तो चाहे ब्राह्मण ही कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी उस का यज्ञोपवीत छीना जाता और उस की अप्रतिष्ठा होती, इसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्या सम्पादन कर २ ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे, इसप्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्यलोगों ने कर रक्खी थी इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्या सम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता रहता। विद्या के अधिकारानुसार उत्तम। मध्यम कनिष्ठ ऐसे यज्ञोपवीत के भूषण सबों को धारण करने को मिलते रहते थे।

१० तदनन्तर वेदारम्भ और ग्यारहवां वेदाध्ययन-समाप्ति अर्थात् समावर्तन ऐसे दो संस्कार हैं।

१२ बिवाह—इस संस्कार का—आगे जब इतिहास विषय में व्याख्यान देंगे उस समय विचार करेंगे, इन दिनों मुहूर्तादिक के विषय में जो आडम्बर मचा रक्खा है यह केवल बलात्कार (ज़बरदस्ती) है।

व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्ता हो इसलिए कालनियम के विषय मे

ध्यान देना अत्यावश्यक है। परन्तु उसी के शा-स्त्रार्थ में व्यर्थ टांय टांय करना अनुचित है, इसी प्रकार पहिले आर्यलोग स्वयंवर करते थे। एक नाड़ आई और मनुष्यगण आघुसा और अमुक ग्रह नहीं मिला और फलानी राशि टेढ़ी हुई इत्यादि गपोड़े उन दिनों में नहीं थे,।

१३ **गार्हपत्य**—गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ करने पड़ते हैं इस का विचार भी आगे इतिहास विषय में व्याख्यान देते समय करेंगे।

१४ **वानप्रस्थ**—पुत्र का बेटा होते ही गृहस्थाश्रम में वास करने वाला गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम धारण करे ऐसी योजना थी। वानप्रस्थाश्रम में धर्माधर्मका और सत्यासत्य विषय में निर्णय होता रहता था। क्योंकि विचार के लिए समय मिले और गुण दोष का निर्णय करने में आवे इसलिए वानप्रस्थाश्रम की योजना की है।

१५ **संन्यास**—धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जन-हित करने में आवे इसलिए यह आश्रम है।

१६ अन्त्येष्टि—आश्वलायन सूत्र में इस संस्कार का वर्णन किया है, आज कल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं। कोई तो जलाते हैं तो कोई जङ्गल में डाल आते हैं तो तीसरे जलसमाधि देते हैं।

प्राचीन आर्यलोगों में अन्त्येष्टि यज्ञ है। उस में दहनप्रकार मुख्य है, अब मुर्दे को गाड़नेवाले ऐसी शङ्का करें कि जलाना बड़ी निष्ठुरता है। परन्तु मुसलमानादिकों को विचार करना चाहिए कि मुर्दे को जमीन में गाड़ने से रोग की उत्पत्ति होती है।

कोई २ ऐसी भी शङ्का करेगा कि जल में देह डालने से मच्छियां उसे खाती हैं तो क्या यह परोपकार नहीं है ? परन्तु जल बिगड़ता है इस का भी तो विचार करना चाहिए। गंगासदृश महानदियों में प्रेतों को डालने से जल में विकार उत्पन्न होता है तो फिर छोटी मोटी नदियों को तो कथा क्या है अब गंगा में हड्डियां ले जा कर बहुत से लोग डालते हैं तो बतलाओ यह कितना भारी भोलापन है ? मरे हुए प्राणीका

देह मृत्तिका है। उसे गंगा में डालने से क्या लाभ होगा ? बन में फेंकने से भी दुर्गन्धि उत्पन्न हो कर रोग उत्पन्न होता है इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस से प्राचीन आर्यलोगों ने दहनविधि ही को मुख्य माना है और यही ठीक है। वे स्मशान भूमी में एक वेदी बनाया करते और उसे पक्की ईंटों से बांधते और फिर उस में मृतदेह को जलाते समय बीस सेर घृत डाल कर चन्दनादि सुगंधित पदार्थ भी डालते थे, शुक्लयजुर्वेद के ३९वें अध्याय में इस विषय का वर्णन किया है।

आज कल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता। नाममात्र होता, अलबत्ता कट्टहाओं की चैन उड़ती है, सो यह जबरदस्ती है। सबों को उचित है कि फिर संस्कारों को सुधारें। जिस से कल्याण हो। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हुई पुस्तकों की सूची

राधास्वामीमतखंडन	मू०	≠)॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान

ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तरसहित	(१)	मू०	)।
व धर्माऽधर्मविषयक ,,	(२--३)	,,	)॥
व वेदविषयक	(४)	,,	)॥
व जन्मविषयक	(५)	,,	)॥
व यज्ञ, संस्कारविषयक	(६)	,,	)॥
व इतिहासविषयक	(७)	,,	)॥
व इतिहासविषयक	(८)	,,	)॥
पुराणों की शिक्षा		,,	डेढ़पाई
मृतकश्राद्धविषयक प्रश्न		,,	डेढ़पाई
लिङ्गपूजाविधान उर्दू		,,	)।
फर्यादपोप उर्दू		,,	⁄)
सङ्गीतसङ्ग्रह भाषा		,,	)॥।
बूंदीशास्त्रार्थ		,,	≠)
मसीहिनियोग—टी० विलियम साहब के जवाब में,		मू०	⁄)

इकट्ठी लेनेवालों के लिये विशेष नियम :—

मिलने का पता—पुस्तकाध्यक्ष आर्य्यसमाज—अजमेर

ओ३म्

श्री १०८ श्री दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान ॥

(७)

इतिहासविषयक

जिसको

पं० गणेशरामचन्द्रशर्म्मा उपदेशक मारवाड़ ने

महाराष्ट्रीय से

नागरीभाषा में उलथा किया

और

बा० रामविलास सारदा मन्त्री ने

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा राजस्थान की

ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९५० फाल्गुन

मूल्य ।॥

प्रथम बार १०००

ओ३म्

ता० २४ जौलाई सन् १८७५ ई०

श्री१०८स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी का व्याख्यान-७

इतिहासविषयक

ओ३म् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु॥ शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयन्नः पशुभ्यः ॥ १ ॥ य० सं० अ० ३६ मं० २२ ॥

इतिहास—यह आज के व्याख्यान का विषय है। क्रम २ से यह व्याख्यान होना चाहिए। इतिहास अर्थात् "इतिहासो नाम वृत्तम्" इतिवृत्त अर्थात् अतीतवर्णन को इतिहास कहते हैं। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता

है। जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध से दो एक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है। जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया ?

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्॥ किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् १ ऋ. अ. ८ अ. ७ व. १७

मूल में प्रकृति भी नहीं थी और न कार्य ही था, उत्पत्ति, स्थिति लयादि को कार्य कहते हैं। सत् अर्थात् प्रकृति का वर्णन सांख्यशास्त्र में किया है, उस शास्त्र में सत्व, रज, तमोगुण की जो समावस्था है वही प्रकृति है ऐसा माना है, सांख्यसूत्र देखो :—

प्रकृतिसे आगे उत्पत्ति कैसे हुई इसविषय में सांख्यशास्त्र का सूत्र नीचे लिखे अनुसार है :—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ॥३॥ सां. अ. १ सू. ६१॥

मूल में प्रकृति नहीं थी तब सृष्टि का कार्य कैसे हुआ इस विषय में यदि संशय कोई करे तो उस के लिए एक दृष्टान्त है सो पढ़ो—

भूमि पर ओस पड़कर घास पर वृक्ष की पत्तियों पर उस के बिन्दु बनजाते हैं, इस से यह ओस पृथ्वी का आवरण नहीं होता। इसी तरह पहिले किसी-प्रकारका भी आवरण नहीं था॥ ईश्वर की इच्छा हो कर उसने सृष्टि उत्पन्न की ऐसाभी कोई २ कहते हैं और इसमें निम्नवचन का प्रमाण देते हैं।

तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति ॥ तैत्तिरीयो-पनि० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६

परन्तु इस वचन से इच्छा के प्रकार का बोध नहीं होता। क्योंकि ईक्ष शब्द का उपयोग किया है। इस धातु का अर्थ दर्शन और अंकन है, परन्तु इच्छा अर्थ नहीं है। ईश्वर की इच्छा हुई यह बात सम्भव नहीं होती। इच्छा होने के लिए किसी भी वार्ता की अप्राप्ति होनी चाहिए। सो ईश्वर को सृष्टि में कौन सी वस्तु अप्राप्त है? अर्थात् कोई भी अप्राप्त

नहीं, फिर इच्छा करनेवाले को देश, काल, वस्तु परिच्छेद होते हैं यह बात भी ईश्वर में नहीं सम्भव होती। इसलिए ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा कहना अयोग्य है।

मूलमें प्रकृति हुई और-प्रकृतिसे सारी सृष्टिउत्पन्नहुई।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥ ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ॥ अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥ सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥ दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८ ॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥ तै० आर० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १॥

आकाश विभु होने से सब पदार्थों का अधिकरण है, और उस से भी विभु और अतिसूक्ष्म परमात्मा है। आकाश ईश्वर ने उत्पन्न किया।

आकाशस्तल्लिंगात् ॥ व्याससूत्रम्

ओं खं ब्रह्म ॥ य० सं०

आकाश और परमात्मा का आधाराधेय सम्बन्ध है, अव्यक्त प्रकृति की जो अव्यक्त स्थिति उसी को आकाश कहना चाहिए, अब कोई ऐसी शङ्का करे कि—ईश्वरको जगत् उत्पन्न करनेका क्या प्रयोजन था ?

इस शङ्का का विचार करते समय प्रथम प्रयोजन शब्द का सच्चा अर्थ क्या है ? यह देखना चाहिए, जिस प्रकार की ईर्षा जगत् में दिखाई देती है उस प्रकार की ईर्षा ईश्वर में सम्भव नहीं होती। इसलिए—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ॥

गौतमसूत्रम्

यह प्रयोजन शब्द का अर्थ यहां सम्भव नहीं होता। क्षुधानिवृत्ति के लिए पाकसिद्धि करनी पड़ती है। इस में क्षुधानिवृत्ति यही प्रयोजन है। अब

ईश्वर से कोई भी पदार्थ बड़ा नहीं है और न बिलकुल ईश्वर को प्रवृत्त करनेवाला ही कोई पदार्थ है, इसलिए ईश्वर के काम में उपरोक्त अर्थ का प्रयोजन भी नहीं सम्भव होता, दूसरा एक ऐसा भी विचार है कि ऊपर लिखे अनुसार जो शङ्का करे उस से हम यह पूछते हैं कि भाई ! सृष्टि न उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? यदि तुम से सृष्टि उत्पन्न न करने का प्रयोजन नहीं कहते बनता। तो हम भी सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन नहीं कहते, फिर तुम्हारी हमारी बराबरी तो अवश्य ही हुई परन्तु ऐसा नहीं है; सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा है कि ईश्वर का सामर्थ्य निष्फल न जावे ईश्वर की शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् यदि उस ने जगत् उत्पन्न न किया तो फिर ईश्वर के बीच वह शक्ति रहने पर भी उस का क्या उपयोग वा लाभ है ? ईश्वर का सर्वशक्तिमत्व निष्फल होगा। सर्व-शक्ति इस शब्द में रचना, धारणा, दया इत्यादि गुणों का समावेश होता है इसलिए सृष्टि उत्पत्ति-

विषय में शक्तिसाफल्य होना यही प्रयोजन है, कोई २ कहते हैं कि ईश्वर ने यह जगत् लीला से उत्पन्न किया। उस में जगदुत्पत्ति का प्रयोजन लीला है। परन्तु यह कहना सयुक्तिक नहीं है। क्योंकि ईश्वर यदि प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव लेनेवाला होगा तो उस में अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की भी सम्भावना होगी, इसलिए सृष्टि उत्पत्ति का कारण ईश्वर-लीला है ऐसा जो लोग कहते हैं वह कहना त्याज्य है, कोई २ ऐसी भी शङ्का करते हैं कि प्रथमबीज उत्पन्न हुआ वा वृक्ष पैदा हुआ ? सो इस का उत्तर सुनो ।

यदि ऐसा कहें कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ तो वृक्ष के बिना बीज कहां से आ पड़ा इस प्रकार का झगड़ा आ पड़ता है, भला प्रथम वृक्ष ही को कहें तौ भी बीज के बिना वृक्ष कैसे हुआ, ? इधर से भी झगड़ा आ पड़ता है इस प्रकार "उभयतः (दोनों ओर से) पाशा रज्जुः" प्रसंग प्राप्त हुआ, वह प्रसंग न आवे इसलिए हम ऐसा कहते हैं कि प्र-

थम बीज ही आया क्योंकि सब जगत् का बीज ईश्वर ही है। वहां से सब उत्पन्न हुए, अस्तु—पतिव्रता का एक बड़ा हास्यजनक दृष्टान्त है। अपनी उपास्य देवता के पास किसी पतिव्रता ने यह वरदान मांगा कि मेरा जो पति अभी है वही अगले जन्म में मेरा पति होवे, तब उस देवता ने उस को वैसा ही वर दिया। फिर आगे वह पति मुक्त हो गया अर्थात् जन्म मरण से छूट गया, तो बताओ अब ऐसे प्रसङ्ग में देवता के बरदान की सफलता कैसे होनी चाहिए ? इस प्रकार की शङ्का कर नाना प्रकार के तर्क लोग करते हैं, उन के प्रति इतना ही उत्तर है कि मुक्त जो पुण्यात्मा पति उस के सत्संग से उस की पतिव्रता स्त्री मुक्त होगी फिर देवता आदि के वरदान होने का बिलकुल ही प्रयोजन शेष नहीं रहेगा, सारांश—ऐसे उलटे सीधे दृष्टान्त में या भाषण में न पड़कर शान्त रीति से विचार करना यह हमारा धर्म है, अस्तु—अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि

उत्पन्न हुआ, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई, एक परमाणुका अणुक होता है। तीन अणुक से एक त्रसरेणु होता है, त्रसरेणु का लक्षण ऐसा किया है।

"जालान्तरगते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ १॥
मनुः

यह उत्पत्तिकाल की व्यवस्था हुई। आगे प्रलयकाल में त्रसरेणु का द्व्यणुक होता है। द्व्यणुक के अणु होते हैं, और अणु के परमाणु होते हैं यह प्रलयव्यवस्था है, अब ईश्वरसामर्थ्य ही उत्पत्ति की सामग्री है। ईश्वरसामर्थ्य ही जगत् का उपादान कारण है यह ईश्वर के साथ सनातन सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व से है।

यह सामर्थ्य प्रकट हुआ तब ही सृष्टि हुई और ईश्वर में इस का लय होने से प्रलय होता है अत्यन्त प्रलय अब तक नहीं हुआ, वायु तक भी प्रलय नहीं

हुआ, जल प्रलय हुए हैं अग्नि तक प्रलय हुआ है, (छांदोग्यउपनिषद्) (ऐतरेयउपनिषद्)।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत् तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत् (छांदोग्यउपनिषद्) तदैक्षत तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत् (ऐतरेयउप०)

पञ्चमहाभूत अनन्त परमाणुओं का संचय होकर उत्पन्न हुए, उसी प्रकार उद्भिजसृष्टि और जीवसृष्टि के असंख्य बीज हैं। यह भी ईश्वरशक्ति है। उसी तरह एकजातीय विजातीय परमाणु हैं, एक बीज में अनन्त बीज उत्पन्न करने की शक्ति है। ओषधि से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से रेत उत्पन्न होता है। और रेत से शरीर उत्पन्न होता है। अब कोई ऐसी शङ्का करे कि रेत किसलिए चाहिए सब पदार्थ एकमात्र अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा कहा जाय तो उस में क्या हानि है? इस का उत्तर यह है कि जीवसृष्टि में मैथुनी सृष्टि का भाग है तो उसमें केवल अन्नग्रहण से ही नई उत्पत्ति नहीं होती, रेतसिञ्चन की भी आवश्यकता होती है।

तपसोऽध्यजायत ॥

धाता ने सृष्टि कैसे उत्पन्न की इस विषय में वर्णन है

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ १ ॥ ऋ०

"यथापूर्व" कहने से कल्पकल्पान्तर में सृष्टि-भेद है ऐसा कहना बिलकुल अयोग्य है और "यथापूर्व" शब्द से जैसा उस के ज्ञान में था वैसाही उसने यह विश्व रचा ऐसा भी बोध होता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः ।
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥

अर्थात् उस के अनेक सामर्थ्य के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई।

ततो रात्र्यजायत ॥

इन सब बातों का विचार सत्यार्थप्रकाश और पञ्चमहायज्ञ आदि पुस्तकों में भलीभांति किया गया है।

यदि ईश्वरने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया ऐसा कहें तो क्या नवीन जगत् उत्पन्न करते समय उसने पुरानी भूलों को सुधारा है? अथवा जो उसे

विदित नथीं क्या ऐसी बातों को उस में डाला है? कभी नहीं। इस स्थल पर तर्क का अप्रतिष्ठान उत्पन्न होता है और अनवस्थाप्रसंग भी आता है और फिर ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आकर पूर्वा- नवस्था उत्तरानवस्था का प्रसंग आता है।

सबों के पश्चात् मनुष्यप्राणी उत्पन्न किया गया वे मनुष्य बहुतसे थे, अन्यान्य मतों में तो दो ही मनुष्य थे ऐसा मानते हैं सो ठीक नहीं है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास होचुका।

अब मनुष्यसृष्टि होने पर मनुष्यजाति का इति- हास प्रारम्भ करना चाहिये।

अनेक देशों के अनेक लोगों में प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थकार होचुके हैं उन सब ग्रंथकारों का प्राचीन होने के कारण हमें मान्य करने के लिए कहना कितनी अयोग्य बात है हमें सत्यासत्य निर्णय करना आता है। कहीं ठग लोगों के पुस्तकों में यह कहा हो कि मनुष्यों को मारकर चोरी करना चाहिए तो क्या वह ग्रंथ प्राचीन है इसलिए उस को

सब बातें मानना चाहिए कभी नहीं? व्यर्थ ही पुरानी पुस्तकों का नाम रखकर दाम्भिक मत का माहात्म्य बढ़ाना। इस उद्योग को क्या कहना चाहिए ?

अब (असिद्धं बहिरंगमंतरंगे) इस न्याय के अनुकूल अनेक दूसरे देशों का इतिहास छोड़कर अपने ही देश का इतिहास कहना योग्य है, प्रथम मनुष्य-जाति हिमालय के किसी प्रान्त में निर्माण हुई— ऐसा मानने से प्राचीन आर्यग्रंथों को परदेशस्थ लोगों के ग्रंथों के मतों के साथ एकवाक्यता होती है, और प्राचीन आर्यलोगों के ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा है :—

सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ १ ॥

इस वचन के अनुकूल आर्यलोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की वह सर्वत्र प्रचलित है उदाहरणार्थ—सब जगत् में सातही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो अब भिन्न २ भाषाएं कैसे उत्पन्न हुईं

इस का विचार करना अत्यावश्यक है—इस सम्बन्ध से यहूदी लोगों में एक ऐसी कहानी है कि उन के पूर्वज स्वर्ग इतना ऊंचा एक बुरज बना रहे थे इस से ईश्वर उन पर अप्रसन्न हुआ और उसने उन की बोली में गड़बड़ मचा दी बस इसी से जगत् में अनेक भाषाएं उत्पन्न हुई सो यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है ।

देश, काल, भेद, आलस्य, प्रमाद के कारण एक मूलभाषा से व्यवहार में भेद पड़ कर भिन्न २ भाषाएं उत्पन्न हुईं ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०

वेदाध्ययन और अध्यापन, इन दोनों कामों में ब्रह्मा—आदि ब्राह्मण, आदि आचार्य और आदि गुरु है। उस का पुत्र विराट् और उस से परंपरा से स्वायम्भू मनु तक वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ; यह सब व्यवस्था मनुस्मृति में कही हुई है ।

मनुष्यसृष्टि उत्पन्न होने पर एक मनुष्य जातिही

थी पश्चात् आर्य और दस्यु ये भेद हुए।

"वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो०"

(ऋग्वेद संहिता)

अर्थात् ऊपर कहे आर्य और दस्यु, आर्य शब्द से विद्वान् लोग और दस्यु कहने से दुष्टों का बोध होता है, फिर आर्यों में गुण कर्मानुसार चार वर्ण हुए, ब्राह्मण अर्थात् पूर्णविद्वान्। क्षत्रिय अर्थात् मध्यमविद्याधिकारी। वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी, और शूद्र अर्थात् अविद्या का स्थान ही समझना चाहिए।

ब्राह्मणादिकों का याजन अध्ययनादि मुख्य धर्म है, वैश्यों का कृषिकर्म। व्यापारादि। शूद्रों का सेवादि कर्म है उसी तरह राजधर्म। युद्धधर्म ये क्षत्रियों के कर्म धर्म हैं। इस प्रकार चार वर्ण हुए, इस के आगे चार आश्रम हुए। इन चारों आश्रमों का विचार अन्य प्रसङ्ग में हो चुका है, अब मनुजी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है इस का विचार करना चाहिए, जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डाल कर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने-

वाले को फंसाते हैं। उसी प्रकार मानव धर्मशास्त्र की अवस्था हुई है, उस में बहुत से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे असल में भगवान् मनु के नहीं हैं। यदि कोई कहे कि यह कैसे ? तो इस का प्रमाण यह है कि। एकंदर (कुल) इन श्लोकों को मनु-स्मृति की पद्धति से मिला कर देखने से वे श्लोक सर्वथैव अयुक्त दीखते हैं, मनुसदृश श्रेष्ठ पुरुष के ग्रंथ में अपने स्वार्थसाधन के लिए चाहे जैसे व-चनों को डालना बिलकुल नीचता दिखलाना है, अनुभूति स्वामी नाम कर के कोई महान् पण्डित था उस के मुंह से पुंसु इस प्रयोग के स्थान में पुंक्षु ऐसा अशुद्ध प्रयोग निकला अब उसी की उप-पत्ति कर २ पण्डित लोग दिखलाते हैं कि वह शुद्ध ही है, मूढ़ लोगों की रीति कुछ२ कव्वों के सदृश है, कव्वे को किसी जानवर के व्रण झट दिखाई देते हैं परन्तु उन्हीं जानवरों के शुद्ध भाग नहीं दीखते। अशुद्धियां झट दिखलाई देने लगती हैं। हमारे पंडित भाइयोंका स्वभाव इन दिनों बहुत बिगड़ गया है।

आग्रहेण आरम्भः कार्यात् शेषं कोपेन पूरयेत् ॥

किसी ने शास्त्रशब्द का उपयोग किया तो झट प्रथम ही पूछने लग जाते है कि " शास्त्रस्य कोऽर्थः" ऐसे २ प्रश्न पूछ कर वितण्डावाद करने को उन को बडो ही हौंस हो रही है, परन्तु वितण्डावादी को कोई वितण्डावादी ही मिले तो वह सहजही प्रश्न निकालेगा कि "शकारस्य कोऽर्थः" "स्तकारस्य कोऽर्थः" अनुस्वारस्य कोऽर्थः" और इस प्रकार फिर वही वितण्डा होगा इत्यादि, सो भाई वितण्डावाद छोड कर के शान्तवृत्ति धारण कर वाद करें यह हमे योग्य है। भगवान् पतञ्जलिजी ने महाभाष्य मे कहा है कि जो दौडेगा सो गिरेगा, उस मे कुछ दोष नहीं,

धावतः स्खलनं न दोषाय भवति" महा०

इस वचन के आधार से हमारे बोलने मे कुछ प्रमाद अथवा अशुद्ध प्रयोग निकल आवे तो पण्डितों को उस का विषाद न मानना चाहिए—हम सर्वज्ञ नहीं और सब बातें हमें उपस्थित भी नहीं। हमारे

बोलने में अनन्त दोष होते होंगे इस का हमें ज्ञान भी नहीं है। दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे, सत्य की छानबीन होनी चाहिए वितण्डा न होनी चाहिए, यही हमारी बुद्धि में आता है। गुणलेश होने पर ले लेवे और दोष को क्षमा होनी चाहिए। शान्तता अर्थात् शम। दम, तप ये ब्राह्मणों के मुख्य गुण हैं, और जिन में ये गुण होंगे निस्सं-देह वे ही ब्राम्हण हैं। ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उन की जीविका अध्यापन, याज-नादिकों की दक्षिणा से होती है, व्यर्थ प्रतिग्रह लेना अप्रशस्त ही है।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥मनुः

शम—अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन। दमन-जितेन्द्रियत्व, तप—विद्यानुष्ठान, दोनों प्रकार का शौच, शारीरिक और मानसिक शान्ति। नम्रता अर्थात् अ-नाग्रह, ये धर्म जब ब्राह्मणों में होते हैं तब उन में गांभीर्य रहता है, और कच्चे ब्राह्मण अर्थात् अब्रा-

क्षत्रियों में ब्राह्मणय का बड़ा ही घमंड रहता है सो ठीक ही है—किसी धनिक को दरिद्री कहने से उसे क्रोध नहीं आता परन्तु दरिद्री को दरिद्री कहने से बहुत ही क्रोध आता है, पापरहित अन्तः-करण की वृत्तियों के अनुकूल मनुष्यों को बोलने की रीति होती है।

आजकल के सांप्रदायिक साधु परमेश्वर का नामोच्चारण करते समय अपनी वृत्तियों के अनुकूल उस नाम में जोड़ लगाते हैं।

उदाहरणार्थ जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—

"राम नाम लडुआ गोपाल नाम घी"

क्षत्रिय साधु हो तो वह कहता है कि—

"राम नाम की ढाल कर कृष्ण कटार बांध ले"

यदि साधु जो कोई बनिये हुए तो यूं कहते हैं कि—

"राम मेरा बानियां समझ करे व्योपार"

शूद्र साधु हो तो वह यूं कहने लग जाता है कि—

"हरिको भजे सो हरिका होय। जातपांत पूछे ना कोय"

अनार्य्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
न कथंचिद्दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥
मनुः ॥

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म सब ग्रन्थों में ज्ञानप्राप्ति करना ही कहा है ज्ञान अर्थात् यथार्थनिर्णय, ज्ञान से विज्ञान प्राप्त करना यह भी ब्राह्मणों का श्रेष्ठ धर्म है, विज्ञान दृढ निश्चय को कहते हैं, अस्तु— ये गुण जब हम ब्राह्मणों में उत्पन्न होंगे तब ही यह देश सहजही में वैभव को प्राप्त होगा इस में संशय नहीं है, मनुजी के प्रथम अध्याय को देखो, उस में क्षत्रियों के धर्म का वर्णन किया हुआ है । क्षत्रियों का धर्म, शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में जय, दान, ईश्वरभाव अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा को ओर से यथार्थ अनुवर्त्तन करवाना है, यथार्थ प्रजा का रक्षण करने से देश में इज्या, अध्ययन, दान ये कर्म उत्तम होते हैं, बनियों का धर्म पशुओं का पालन, दान, इज्या, देना लेना, और खेती करना है । इस प्रकार की मनुष्यों में गुणकर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भव

मनुके समयतक पूर्णतया चलती रही। मनुके दसपुत्र—

मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च ॥३५॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥३६॥

स्वायंभव मनु का बेटा मरीचि यह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओंकी परम्परा हुई, अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करनेलगा। कलाकौशल्य की व्यवस्था करने वाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नामहै और एक शिल्पकार का भी था अस्तु—विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली फिर इस विमान में बैठकर आर्य लोग इधर उधर भ्रमण करने लगे। ब्रह्मदेव का पुत्र विराट् उस के पुत्र विष्णु सोमसद् थे और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था येही विष्णु और महादेव आगे जाकर ब्रह्म के साथ त्रिमूर्ति में मुख्यदेवता करके प्रसिद्ध हुए। मंद-सुगंध और शीतल वायु जहां चलरही है और रम-

षोय वनस्पतियां जहां उगी हैं और जहां पर स्फ-
टिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक बहरहा है ऐसे
हिमालय की ऊंची चोटी पर विष्णु वास करने लगा
उसी को वैकुण्ठ भी कहते थे फिर दूसरे हिमाच्छा-
दित भयङ्कर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा
उसे कैलास कहते थे। इस के आगे विष्णु और महा-
देव ये कुलों के नाम पड़ गए। ऊपर लिखे हुए विष्णु
और महादेव आज तिथितक जीते हैं यह कहना
ठीक नहीं किन्तु अत्यन्त भोलापन है, इस में दृष्टान्त
इतनाही है कि मिथिल देश के जनकपुर के राजा को
अभी तक जनक ही कहते हैं। इस से सीताजी का
पिता जनक राजा अब तक जिंदा है यह कहना
बिलकुल अप्रशस्त है, यही प्रकार ब्रह्माजी के विषय
में भी लग सक्ता है। आर्यावर्त में लोकसंख्या बहुत
हुई उसे न्यून करनी चाहिये इसलिए आर्यलोग
अपने साथ मूर्ख शूद्रादि अनार्य लोगों को लेकर
विमान उड़ाते फिरते जहां कहीं सुन्दर प्रदेश देखा
कि झट वहीं पर बस जाते। इस प्रकार सब जगत्

में प्रत्येक देश में मनुष्य फैले। इसी समय में राजा इक्ष्वाकु ने विद्वान् लोगों को अपने साथ लेकर इस भरतखण्ड में प्रथम बसाहत की। आर्यावर्त्त देश कहने से पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिंधु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा अथवा दृशद्वती उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याद्रि आदि के बीच का जो प्रदेश है उसी को आर्य्यावर्त कहते हैं। यह आर्य्यावर्त कितना सुन्दर है कितना सुपीक (ज़रखेज़) है ? और जल वायु भी यहां का कितना उत्कृष्ट है ? इस में छहों ऋतु क्रम से आते रहते हैं।

देव अर्थात् विद्वान् ये हैं उन्हीं के कारण देव-नदी ऐसी संज्ञा उत्पन्न हुई। इसीलिए "देवनद्योर्यदन्त-रम्" ऐसा कहा है। प्रथम गंगाका नाम पद्मा था फिर उस नदीका नहर भागीरथ ने निकाला इसलिए उसका नाम भागीरथी पड़ा और उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मण इनका नाम आर्य था। उसका सूत्र है कि:—

'आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः' पाणिनिसूत्रम्

ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम

आर्य्यस्थान अथवा आर्य्यखण्ड होना चाहिये सो उसे छोड़ न जाने हिन्दुस्थान यह नाम कहां से निकला? भाई श्रोतागण! हिन्दु शब्द का अर्थ तो काला काफिर चोर इत्यादि है और हिन्दुस्थान कहने से काले काफिर चोर लोगों की जगह अथवा देश ऐसा अर्थ होता है तो भाई इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो? और आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ अथवा अभिज्ञात इत्यादि और वर्त कहने से ऐसों का देश अर्थात् आर्य्यावर्त्त का अर्थ श्रेष्ठों का देश ऐसा होता है सो भाई ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यों स्वीकार नहीं करते? क्या तुम अपना मूल का नाम भी भूल गए? हा! यह हम लोगों की स्थिति देख कर किस के हृदय को क्लेश न होगा, सब ही को होगा। अस्तु—सज्जनजन! अब हिन्दु इस नाम का त्याग करो और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त इन नामों का अभिमान धरो। गुणभ्रष्ट हम लोग हुए तो हुए परन्तु नामभ्रष्ट तो हमें न होना चाहिए ऐसी आप सबों से मेरी प्रार्थना है, ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हुई पुस्तकों की सूची

राधास्वामीमतखण्डन मू० ≠)॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान

ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तरसहित (१) मू०)।

व धर्माऽधर्मविषयक ,, (२—३) ,,)॥

व वेदविषयक (४) ,,)॥

व जन्मविषयक (५) ,,)॥

व यज्ञ, संस्कारविषयक (६) ,,)॥

व इतिहासविषयक (७) ,,)॥

व इतिहासविषयक (८) ,,)॥

पुराणों की शिक्षा ,, डेढ़पाई

मृतकश्राद्धविषयक प्रश्न ,, डेढ़पाई

लिङ्गपूजाविधान उर्दू ,,)।

फर्यादपोप उर्दू ,, ✓)

सङ्गीतसङ्ग्रह भाषा ,,)॥।

बूंदीशास्त्रार्थ ,, ≠)

मसलेनियोग—टी. विलियम साहब के जवाब में, मू० ✓)

इकट्ठी लेनेवालों के लिये विशेष नियम :—

मिलने का पता—पुस्तकाध्यक्ष आर्य्यसमाज—अजमेर

ओ३म्

श्री १०८ श्रीदयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान ॥

(८)

इतिहासविषयक

जिसको

पं० गणेश रामचन्द्र शर्म्मा उपदेशक मारवाड़ने

महाराष्ट्रीय से

नागरी भाषा में उलथा किया

और

बा० रामबिलास सारदा मन्त्री ने

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा राजस्थान की

ओर से प्रकाशित किया

अजमेर

वैदिक-यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सं० १९५० आश्विन

प्रथमवार २०००

मूल्य)॥

आर्य्यपुस्तकप्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हुई पुस्तकों की सूची

राधास्वामीमतखंडन		मू०	=)॥
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान			
ईश्वरसिद्धिविषयक प्रश्नोत्तरसहित	(१)	मू०	)।
व धर्माऽधर्मविषयक	(२-३)	„	)॥
व वेदविषयक	(४)	„	)॥
व जन्मविषयक	(५)	„	)॥
व इतिहासविषयक	(८)	„	)।
पुराणों की शिक्षा		„	डेढ़पाई
मृतकश्राद्धविषयक प्रश्न		„	डेढ़पाई
लिङ्गपूजाविधान उर्दू		„	)।
फर्यादपोप „		„	/)
सङ्गीतसङ्ग्रह भाषा		„	)॥।

बूंदीशास्त्रार्थ	„	=)
मसलेनियोग—टी० विलियम साहब के जवाब में	„	/)

इकट्ठी लेनेवालों के लिये विशेष नियम :—

मिलने का पता—

पुस्तकाध्यक्ष आर्य्यसमाज—अजमेर

ता० २५ जौलाई सन् १८७५ ई०

श्री१०८स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी का व्याख्यान ८ ॥

इतिहासविषयक ॥

इक्ष्वाकु यह आर्य्यावर्त्त का प्रथम राजा हुआ इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है, पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझे किन्तु एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जाने, पहिला अधिकारि स्वायम्भव था, इक्ष्वाकु के समय में लोगों ने अक्षर स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिलकुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ२ बंद होने लगी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे उस का नाम देवनागरी ऐसा है। कारण—देव

अर्थात् विद्वान् इन का जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षरद्वारा अर्थ संकेत उत्पन्न करके ग्रंथ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया। ब्रह्मा तक दिव्य-सृष्टि थी। पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई। उस से विराट् हुआ, और विराट् से पीछे मनु हुआ, मनु ने धर्मव्यवस्था बनाई। मनु के दस पुत्र थे। उन में स्वायम्भव के समय से राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ हुईं, इक्ष्वाकु राजा हुआ तो वह इस से नहीं कि राजकुल में वह उत्पन्न हुआ था अथवा उसने बलात्कार से राज्य उत्पन्न किया हो किन्तु सारे लोगों ने उसे उस की योग्यतानुकूल राजसभा में अध्यक्षस्थान पर बैठाया। उस समय सारे लोग वैदिकव्यवस्थानुकूल चलते थे, भृगु जी ने अपनी संहिता में यह सब व्यवस्था प्रकट की है और यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है इस से बाल्मीकि जी ने उसे बनाया यह कहना कितना सयुक्तिक है सो देखो, इस व्यवस्था के सम्बन्ध से मनु के सातवें

आठवें और नववें अध्यायों में जो राज्यों की व्यवस्था बतलाई है उसे देखो। केवल अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुकुम चलाने की शक्ति न थी। वह तो केवल राजसभा में अध्यक्ष का अधिकार चलाता रहता, राज्यों की व्यवस्था कैसी थी उसे संक्षेप से इस स्थल पर कहता हूं ग्राम, महाग्राम। नगर, पुर। ऐसे २ देशविभाग रहते थे, ग्रामों में सौ २ घर। तो महाग्रामों में हजार, नगर में दस हजार और पुर में तो इस से भी अधिक घरों की संख्या रहती थी, दश ग्राम पर एक शतेश नाम का अधिकारी रहता था और सहस्र ग्रामों पर सहस्रेश नाम का अधिकारी होता था, दश सहस्रों पर महासुशील नीतिमान् ऐसा एक ही अधिकारी रहता था, लिखने पढ़ने के कामों में अनुभवशील ऐसे सब देशों में गुप्तदूत वार्तामियां (खबरें) पहुंचाने के लिये तथा अधिकारी लोग कैसा अधिकार चलाते हैं इस का बोध रखने के लिये चारों ओर फिरते रहते थे।

और यह दूतों का काम पुरुष वा स्त्रियां भी करती थीं, राज्य में चार प्रकार के अधिकारी होते थे। राज्याधिकारी। सेनाधिकारी। न्यायाधिकारी। और कोषाधिकारी ऐसे चार महकमे के चार अधिकारी रहते थे, इक्ष्वाकु राजसभा का प्रथम अध्यक्ष था। यदि सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़ते उस स्थल पर निर्णय करने का काम अध्यक्ष का था। देश में भिन्न २ जाति की सभाएं थीं। उन में राजार्य्य-सभा ही मुख्य थी और धर्मसभाएं अर्थात् परिषद् भी स्थल स्थल पर थीं, दश विद्वान् विराजे बिना परि-षद् सभा नहीं होती थी। और न्यून से न्यून तीन विद्वानों के आये बिना तो सभा का काम चलता ही नहीं था। धर्मसभा की ओर किसी प्रकार का अधिकार न था किन्तु उस में धर्माधर्म का विवेचन और उपदेश ही होता था, परीक्षा और शिल्पोन्नति की ओर भी इस सभा का ध्यान रहता था, न्यूना-धिक के विषय राजार्य्यसभा को विदित करके उस सभा

को ओर से दण्डादिक की व्यवस्था होती थी, महाभा-
रतान्तर्गत सभापर्व में भिन्न २ सभाओं का वर्णन
किया हुआ है उसे देखो। सेना के सिपाही लोगों
को आज्ञा मानना ही मुख्यकर्त्तव्य कर्म है ऐसा
बतलाकर उन्हें धनुर्वेद सिखाते थे, आर्यलोगों को
"कवायद क्या है" यह विदित न था ऐसा बहुत से अंग-
रेज़ी पढ़े हुए लोग कहते हैं परन्तु यह कहना
पागलपने का है क्योंकि मकरव्यूह, वकव्यूह, वला-
काव्यूह, सूचीव्यूह। शूकरव्यूह। शकटव्यूह। चक्रव्यूह।
इत्यादि कवाइद के नाना प्रकार प्राचीन काल में आर्य-
लोगों को विदित थे। और सैन्य में की भिन्न २
टोलियों पर दशेश। शतेश। सहस्रेश ऐसे अधिकारी
रहते थे। और उस समय के उन के हत्यार अर्थात्
शक्ति। असि। शतघ्नी। भुशुण्डी आदि होते थे, अंगरेज
लोगों में अबतक व्यूहरचना का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ
है, अर्थात् वे नहीं जानते कि व्यूहरचना किसे कहते
हैं, थोड़ी बहुत कवाइद करते हैं इतने ही से वे प्राची-

न आर्यलोगों की अपेक्षा कुशल हैं ऐसा तुम्हें प्रतीत होने लगा है, सारांश "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" यह कहावत सत्य है॥

इस से अंगरेजों में हमारी अपेक्षा विशेष गुण नहीं है ऐसा मेरा कहना नहीं है किन्तु उनमें भी बहुतसे अच्छे गुण हैं सो उनके अच्छे गुणों का हम स्वीकार करें यही हमें योग्य है। पहिले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उस के लडकेवालों को वेतन मिला करता और युद्धप्रसंग में जो लूट मिलती तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बांट दिया करते, सैन्य की योग्यव्यवस्था के सम्बन्ध से उस समय बहुतेरे कार्य्यों की ओर ध्यान दिया करते, और समस्त ऐश्वर्य का मूल कारण सेना है यह जान सेना में के लोगों को कोई प्रकार की चिन्ता वा कष्ट न होने देते इसलिये अधिकारी लोग उस समय बहुत ही दक्ष होते थे, यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उस की विशेष चिन्ता की जाती थी अर्थात् उत्तम रक्षा होती थी॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ॥
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥१॥

श्रेष्ठ पुरुषों को और राजा को गरीबों की अपेक्षा शतपट (सौगुना) दण्ड अधिक दिया जाता, और राजे लोग मुनि लोगों के साथ धर्मवाद करने में समय लगाते रहते। इस विषयमें पिप्पलादमुनिकी कथा देखो, इस प्रकार इक्ष्वाकु के समय में राज्यव्यवस्था थी। इक्ष्वाकु राजा इस प्रकार का सुशील। नीतिमान्, सुज्ञ। जितेन्द्रिय। विद्वान् और गुणसम्पन्न राजा था ॥

बहुतसी पीढ़ियों के पश्चात् सगरराजा राज्य करने लगा, उस समय राजे लोग यदि मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते अथवा अधिकार ही न देते॥

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों को चण्डालचौकड़ी ने घेरा हुआ है फिर सहज ही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करते हैं इस में आश्चर्य ही क्या है ? बस सारांश इतना ही है कि यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है ॥

बह्वः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः॥अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥१॥महाभारते॥

सगर राजा सुशील और नीतिमान् था। इस राजा का मूर्ख और दुष्ट ऐसा असमंज नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ उसने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया, इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्यसभा के सन्मुख होने पर राजा ने उसे शासन किया, और उसे एक महाभयङ्कर जंगल के बीच कैदकर रक्खा, इसी का नाम न्याय है, नहीं तो आज कल के राजे लोग और उन के न्याय का क्या पूछना है, कहते हैं कि।

समर्थकोनहींदोषगुसाईं।रविपावकसुरसरीकीनाईं

बस इस प्रकार की शिक्षा ने भारत को तबाह कर दिया, प्यारे आर्यगण! समर्थों को मूर्खों की अपेक्षा अधिक दोष लगता है क्योंकि उसे समझ देकर समर्थ किया है वह भला, बुरा, पाप पुण्य सब जानसक्ता है, तात्पर्य कि ऐसे २ गपोड़ों को न मानकर अपने धर्मानुरागी पूर्वजोंकी धर्मशिक्षानुकूल वर्तावरक्खें इसी में कल्याण है